

प्राकृतिक

वर्ष 11, अंक 4,

जनवरी-मार्च 2000 ई०



22 अप्रैल 2000 ई० को 'पीयूष-पर्व' के सुअवसर पर पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी के पावन सान्निध्य में ब्र० कमलाबाई जी को 'साहू श्री अशोक जैन स्मृति पुरस्कार' समर्पित करते हुये राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सर संचालक माननीय श्री कु० सी० सुदर्शन जी

आवरण पृष्ठ के बारे में

भारतीय संस्कृति में शिक्षा का सम्मान

दिनांक 22 अप्रैल '2000 को परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के पावन जीवन के पचहत्तर वर्ष पूर्ण हुये। इस सुअवसर पर भक्तजनों ने अत्यंत बहुमानपूर्वक उनका जन्मदिवस 'पीयूष-पर्व' के रूप में सादगीपूर्वक मनाया।

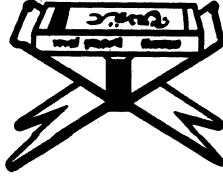
स्वनामधन्य साहू श्री अशोक जैन की स्मृति में बड़ौत (उ०प्र०) की संस्था 'साहू श्री अशोक जैन स्मृति पुरस्कार समिति' द्वारा प्रवर्तित पुरस्कार इस वर्ष यशःकाय समाजसेविका शिक्षानेत्री ब्र० कमलाबाई जी (राज०) को आचार्य कुन्दकुन्द सभामण्डप, परेड ग्राउण्ड (दिल्ली) में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सर संघचालक माननीय श्री कु० सी० सुदर्शन जी के कर-कमलों से सादर समर्पित किया गया। यह एक उल्लेखनीय बात रही की माननीय श्री सुदर्शन जी ने ब्र० कमलाबाई जी को अपने वक्तव्य में तीन बार 'मातुश्री' का संबोधन किया। तथा उनके विनयपूर्वक चरण-स्पर्श भी किये। यह भारतीय सांस्कृतिक गरिमा का मूर्तिमान रूप था। साथ ही उन्होंने वर्तमान शिक्षा पद्धति में भारतीय संस्कृति एवं परम्परा के विरुद्ध दी जा रही शिक्षा के प्रति खेद व्यक्त किया तथा इसमें गुणात्मक सुधार के लिये संकल्प की घोषणा की। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि जब तक परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज जैसे महान् ज्ञानी संतों के मार्गदर्शन के अनुसार शिक्षापद्धति उदार एवं व्यापक दृष्टिकोण से युक्त नहीं होगी, तब तक इस देश का शैक्षिक स्तर उन्नत नहीं हो सकेगा।

पूज्य आचार्यश्री के प्रति बारंबार बहुमान व्यक्त करते हुये उन्होंने कहा कि आप जैसे पावन संतों के मार्गदर्शन की सम्पूर्ण देश को ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व को अत्यंत आवश्यकता है।

ब्र० कमलाबाई जी के प्रति बहुमान व्यक्त करते हुये कहा गया कि आपको मात्र 'एक लाख रुपये' की राशि समर्पित की गई है, किंतु आपके द्वारा लाखों महिलाओं का जीवन रत्नों की तरह तराश कर मंगलमय बनाया गया है। अतः वस्तुतः यह आपके महान् कार्यों के प्रति एक अत्यंत छोटी सी विनयांजलि मात्र है।

पूज्य आचार्यश्री ने समागत श्रद्धालुजनों को अपने आशीर्वचन में आध्यात्मिक एवं नैतिक रूप से उन्नत जीवन बनाने का मांगलिक संदेश प्रदान किया।





॥ जयदु सुद-देवदा ॥

प्राकृत-विद्या
पागद-विज्ञा

PRAKRIT-VIDYA
Pagad-Vijja

शौरसेनी, प्राकृत एवं सांस्कृतिक मूल्यों की त्रैमासिकी शोध-पत्रिका
The quarterly Research Journal of Shaurseni, Prakrit & Cultural Values

वीरसंवत् 2526 जनवरी-मार्च '2000 ई० वर्ष 11 अंक 4
Veersamvat 2526 January-March '2000 Year 11 Issue 4

आचार्य कुन्दकुन्द समाधि संवत् 2012

मानद प्रधान सम्पादक

प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन

निदेशक, कुन्दकुन्द भारती जैन शोध संस्थान

Hon. Chief Editor

PROF. (DR.) RAJA RAM JAIN

Director, K.K.B. Jain Research Institute

मानद सम्पादक Hon. Editor

डॉ० सुदीप जैन

एम.ए. (प्राकृत), पी-एच.डी.

DR. SUDEEP JAIN

M.A. (Prakrit), Ph.D.

प्रकाशक

श्री सुरेश चन्द्र जैन

मंत्री

श्री कुन्दकुन्द भारती ट्रस्ट

Publisher

SURESH CHANDRA JAIN

Secretary

Shri Kundkund Bharti Trust

★ वार्षिक सदस्यता शुल्क - पचास रुपये (भारत) 6.0 \$ (डालर) भारत के बाहर
★ एक अंक - पन्द्रह रुपये (भारत) 1.5 \$ (डालर) भारत के बाहर

डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री

प्रो० (डॉ०) प्रेमसुमन जैन

डॉ० उदयचन्द्र जैन

प्रबन्ध सम्पादक

डॉ० वीरसागर जैन

श्री कुन्दकुन्द भारती (प्राकृत भवन)
18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया,
नई दिल्ली-110067
फोन (011) 6564510
फैक्स (011) 6856286

Kundkund Bharti (Prakrit Bhawan)
18-B, Spl. Institutional Area
New Delhi-110067
Phone (91-11) 6564510
Fax (91-11) 6856286

“संख्याप्रकृतेरिति वक्तव्यम्, इह मा भूत् । महावार्तिकः कालापकः ।”

—(पातंजल महाभाष्य, 4/2/65)

इस वाक्य में महर्षि पतंजलि ने जैन आचार्य शर्ववर्म के ‘कातंत्रव्याकरण’ का उल्लेख किया है। इसे ही ‘कलाप’ या ‘कालापक’ भी कहा जाता था। पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने ‘कातंत्रव्याकरण’ के रचयिता का काल 1500 विक्रमपूर्व स्वीकार किया है।

इसीप्रकार ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी में सम्राट् खार्वेल ने लुप्त होते जैन आगमों की रक्षा के लिए जैनश्रमणों की विशाल संगीति बुलवाई थी, जिसके फलस्वरूप अवशिष्ट द्वादशांगज्ञान को चार अनुयोगों में सुरक्षित किया गया था। —इसका ऐतिहासिक हाथीगुम्फा शिलालेख की पंक्ति 16 में स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

पं० हीरालाल जी सिद्धान्ताचार्य ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि ‘कसायपाहुडसुत्त’ के रचयिता आचार्य गुणधर का काल विक्रमपूर्व प्रथम शताब्दी है। लगभग यही काल आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त-भूतबलि एवं आचार्य कुन्दकुन्द का भी विद्वानों ने माना है।

इन सब तथ्यों से विक्रमपूर्व काल से ही जैनश्रमणों द्वारा ग्रंथरचना के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। इनके आधार पर स्पष्टरूप से कहा जा सकता है कि विक्रमपूर्व द्वितीय शताब्दी से धाराप्रवाह रूप से जैन-श्रमणों ने ग्रंथ-सृजन प्रारंभ कर दिया था।

अनुक्रम

क्र.	शीर्षक	लेखक	पृष्ठ सं०
01.	सम्पादकीय : मिथ्यात्व-रहित सभी एकदेशजिन हैं	डॉ० सुदीप जैन	4
02.	अभीक्षण ज्ञानोपयोग (लेख)	आचार्य विद्यानन्द मुनि	9
03.	'कुमारः श्रमणादिभिः' सूत्र का..... (लेख)	डॉ० सुदीप जैन	21
04.	जैन समाज का महनीय गौरव-ग्रंथ 'कातंत्र-व्याकरण' (लेख)	प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन	24
05.	कातंत्र-व्याकरण और उसकी उपादेयता (लेख)	डॉ० उदयचंद जैन	30
06.	हंसदीप : जैन-रहस्यवाद की एक उत्प्रेरक कविता (लेख)	प्रो० (डॉ०) विद्यावती जैन	34
07.	आगम-मर्यादा एवं निर्ग्रन्थ श्रमण (लेख)	श्रीमती रंजना जैन	38
08.	एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न का समाधान (लेख)	पं० नाथूलाल जैन शास्त्री	42
09.	गोरक्षा से अहिंसक संस्कृति की रक्षा (लेख)	आचार्य विद्यानन्द मुनि	45
10.	वैशाली (कविता)	रामधारी सिंह दिनकर	51
11.	श्रुतज्ञान और अंग-वाङ्मय (लेख)	राजकुमार जैन	52
12.	आचार्यश्री विद्यानन्द जी की सामाजिक चेतना (लेख)	डॉ० (श्रीमती) माया जैन	58
13.	आचार्यश्री विद्यानन्द-वंदनाष्टक (कविता)	डॉ० महेन्द्रसागर प्रचंडिया	61
14.	गकखत्त-वर्णण (लेख)		62
15.	अहिंसक अर्थशास्त्र (लेख)	श्रीमती रंजना जैन	66
16.	जैनदर्शनानुसार शिशु की संवेदन शक्ति (लेख)	श्रीमती अमिता जैन	69
17.	मनीषी साधक : पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ (लेख)	डॉ० प्रेमचन्द रांवका	74
18.	सिद्धार्थ का लाडला (कविता)	जयचन्द जैन	78
19.	भट्टारक-परम्परा एवं एक नम्र निवेदन (लेख)	पं० नाथूलाल शास्त्री	80
20.	भट्टारक-परम्परा (लेख)	डॉ० जयकुमार उपाध्ये	82
21.	अपभ्रंश के 'कडवक-छन्द' का स्वरूप-विकास (लेख)	प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन	86
22.	पुस्तक-समीक्षा		90
23.	अभिमत		96
24.	समाचार-दर्शन		99

मिथ्यात्व-रहित सभी एकदेशजिन हैं

—डॉ० सुदीप जैन

शौरसेनी प्राकृत के आगम-ग्रन्थों में आत्मसाधना के उच्चतम मानदण्ड निदर्शित हैं। परमज्ञानी आचार्यों ने अपनी साधना से सत्यापित करके आगम के तथ्यों की प्रस्तुति विविध ग्रन्थों में भी की है। इन्हीं आगम-ग्रन्थों के तत्त्वज्ञान को अपने दृष्टिपथ में सुस्थापित करनेवाले श्रमणों को ज्ञानियों ने 'आगमचक्रू साहू' कहा है। आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान ही जैनश्रमणों की वह विशिष्ट पूंजी है, जिसके कारण चिरकाल से जैनैतरों के द्वारा वे स्तुत्य भी रहे हैं और ईर्ष्या के पात्र भी रहे हैं। अध्यात्मविद्या मूलतः श्रमणविद्या है। वैदिक साहित्य में इसके उपदेष्टा क्षत्रिय माने गये हैं, तथा हमारे चौबीसों तीर्थंकर क्षत्रिय थे। अतः तीर्थंकरों के द्वारा उपदिष्ट समस्त तत्त्वज्ञान में अध्यात्म-विषयक प्ररूपण ही सर्वाधिक महनीय रहा है।

आध्यात्मिक साधना का क्रम वस्तुतः 'अविरत-सम्यक्त्व गुणस्थान' से ही प्रारम्भ हो जाता है। क्योंकि आत्मज्ञान एवं मोक्षसाधना का मूल बाधकतत्त्व 'मिथ्यात्व' है, जिसे 'मिथ्यादर्शन' भी कहा जाता है। सम्पूर्ण बाह्य क्रियाकलाप मिलकर भी मिथ्यात्व का बाल भी बांका नहीं कर पाते हैं। इसीलिए आचार्यों ने एकस्वर से 'मिथ्यात्व' को 'संसार का मूलकारण' कहा है। इसी को 'मुख्य बंधहेतु' भी सर्वत्र प्रतिपादित किया गया है।

वस्तुतः आत्मतत्त्व के अश्रद्धान या विपरीत श्रद्धान का नाम ही 'मिथ्यात्व' है, अतः अन्य बाह्य क्रियाओं से मिथ्यात्व को कोई हानि नहीं होती है। आत्मज्ञानशून्य वे क्रियायें इसीप्रकार हैं, जैसे चेहरे पर लगे दाग को दर्पण में देखकर दर्पण को पोंछने की चेष्टा करना। परदृष्टि से तो मिथ्यात्व पुष्ट होता है। यह परदृष्टि की ही तो महिमा है कि कतिपयजनों को मिथ्यात्व 'बंधका कारण' या 'संसार का हेतु' नहीं दिखता है। यहाँ तक कि सम्पूर्ण आगमों में स्पष्ट मिथ्यात्व के बंधकारणत्व का स्पष्ट निर्देश होते हुए भी मात्र पूर्वाग्रह से वे अपनी बात पर दृढ़ हैं। इस प्रसंग में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती 'गोम्मटसार' ग्रंथ की वह गाथा स्मरण आती है—

“सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सददहदि ।

सो चेव हवदि मिच्छादिट्ठी जीवो तदो पहुदि ।।”

अर्थ:— आगम के सूत्रग्रंथों सही तथ्य दिखाये जाने पर भी जो उसे नहीं मानता है, (तथा अपने पूर्वाग्रह पर दृढ़ रहता है), तो वह व्यक्ति तत्काल मिथ्यादृष्टि हो जाता है ।

किंतु यह कथन तो आगम के वचनों का ज्ञान न होने पर अन्यथा प्ररूपण कर देने वाले सम्यग्दृष्टि के प्रति है । तथा जिन्हें अध्यात्म तत्त्व-विषयक चर्चा भी न सुहाये, मूल तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में ही सही निर्णय न हो; उनके तो ‘प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन’ का भी विश्वास होना कठिन है ।

आत्मज्ञान एवं आत्मध्यान ही ‘अध्यात्मविद्या’ के मूल प्रतिपाद्य-विषय हैं तथा इन्हीं से ‘मिथ्यात्व कर्म’ नष्ट होकर जीव आत्मसाधना के पथ या मोक्षमार्ग पर अग्रसर होता है । यह प्रक्रिया ‘असंयत सम्यग्दृष्टि’ नामक चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाती है । इस बारे में आचार्य ब्रह्मदेव सूरि लिखते हैं—

“जितमिथ्यात्व-रागादित्वेन एकदेशजिनाः असंयतसम्यग्दृष्ट्यादयः ।”

—(वृहद्ब्रह्मसंग्रह, गाथा 1 की टीका, पृष्ठ 5)

यहाँ पर असंयतसम्यग्दृष्टि को ‘एकदेशजिन’ संज्ञा का प्रयोग ध्यातव्य है । जयसेनाचार्य ने तो मिथ्यादृष्टि को छोड़कर शेष सभी को साधकों को ‘एकदेशजिन’ संज्ञा दी है—

“सासादनादि-क्षीणकषायान्ता एकदेशजिना उच्यन्ते ।”

—(‘पवयणसार’, गाथा 101 की ‘तात्पर्यवृत्ति’ टीका)

अर्थ:— ‘सासादन’ नामक द्वितीय गुणस्थान से लेकर ‘क्षीणकषाय’ नामक बारहवें गुणस्थान-पर्यन्त सभी के ‘एकदेशजिन’ कहा गया है ।

इसीप्रकार ‘भावपाहुड’ गाथा 1 की टीका में स्पष्टरूप से ‘श्रावक’ शब्द का भी उल्लेख करते-हुए ‘अविरतसम्यग्दृष्टि’ को ‘एकदेशजिन’ कहा गया है—

“सप्तप्रकृतिक्षयं कृत्वैकदेशजिनाः सदृष्टयः श्रावकादयः ।”

अर्थ:— मिथ्यात्व कर्म की तीन एवं अनंतानुबंधी कषाय की चार —इसप्रकार सात प्रकृतियों को नष्ट करके सम्यग्दृष्टि श्रावक आदि भी ‘एकदेशजिन’ कहलाते हैं ।

आचार्य वीरसेन स्वामी ने ‘स्वसंवेदन’ को ही ‘सम्यग्दर्शन’ कहा है—

“स्वसंवेदनं सददर्शनमिति लक्ष्यनिर्देश ।”

—(धवला, 1/1/1/4, पृष्ठ 150)

अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से ही धर्मध्यान का स्वामित्व आचार्यों ने प्रतिपादित किया है— “किं च कैश्च धर्मस्य चत्वार स्वामिनः स्मृताः ।

सदृष्ट्याद्यप्रमत्तान्ता यथायोग्य-हेतुना ।।”

—(आ० शुभचन्द्र, ‘ज्ञानार्णव’, 26/28)

अर्थ:— असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत —इन चार गुणस्थानों (चौथे से सातवें तक) में विद्यमान भव्यात्माओं को 'धर्मध्यान का स्वामी' माना गया है।

वस्तुतः आत्मध्यान के द्वारा ही मिथ्यात्व का क्षय करके जीव संसारमार्ग से हटकर जीवन में मोक्षमार्ग की शुरूआत करता है। अन्य किसी का ध्यान करने से मिथ्यात्व की हानि संभव ही नहीं है। इस तथ्य को पुष्ट करते हुए आचार्य वादीभसिंह सूरि सांकेतिक शैली में लिखते हैं—

“ध्याता गरुडबोधेन, न हि हन्ति विषं बकः।” —(क्षत्रचूडामणि, 6/23)

अर्थ:— जैसे गरुड के ध्यान से ही सर्प का विषय उतर सकता है, न कि बगुले के ध्यान से; उसीप्रकार आत्मध्यान से ही अनादि मिथ्यात्वरूपी विष उतर सकता है, अन्य किसी परपदार्थ के ध्यान से नहीं।

अरिहंतादि को जो 'सम्यग्दर्शन का निमित्त' कहा गया है, वह भी इसी दृष्टि से कहा गया है कि वे स्वयं निरन्तर आत्मध्यान में लीन 'आदर्श' प्रतिमान हैं। वस्तुतः तो उनसे प्रेरणा एवं मार्गदर्शन प्राप्त कर जीव स्वयं आत्मध्यान करता है, उसी के द्वारा 'सम्यग्दृष्टि' बनता है। इस तथ्य को परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द इन शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं—

“अप्या अप्यम्मि रदो सम्मादिट्ठी फुडो जीवो।” —(भावापाहुड, गाथा 31)

अर्थ:— आत्मा अपने आत्मस्वरूप में निरत (लीन) होता हुआ ही वस्तुतः सम्यग्दृष्टि होता है।

अतः कहा जा सकता है कि 'आत्मादर्शन' ही 'सम्यग्दर्शन' है, जिसे 'मोक्ष-महल की प्रथम सीढ़ी' कहा गया है। इसके बिना तो मोक्षमार्ग की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

इसीलिए आचार्य माघनन्दि ने 'आत्मा को ही निश्चय से शरण' कहा है—

“निमित्तं शरणं पञ्चगुरवो गौण-मुख्यता।

शरण्यं शरणं स्वस्य स्वयं रत्नत्रयात्मकम्।।”

—(शास्त्रसार-समुच्चय, पद्य 10, पृष्ठ 298)

अर्थ:— व्यवहार से पंचपरमेष्ठी निमित्तरूप से शरण कहे गये हैं तथा निश्चय से रत्नत्रयात्मक निजात्मतत्त्व ही अपने लिए शरणभूत है।

चतुर्थ गुणस्थानवाले अविरत सम्यग्दृष्टि के लिए यह आत्मध्यान अत्यन्त सूक्ष्मकाल के लिए होता है, जबकि देशविरत गुणस्थान वाले जीव के लिए इससे कुछ अधिक और छठवे-सातवें गुणस्थानों में झूलने वाले महाव्रतियों के लिए इसका काल और अधिक हो जाता है तथा वे नियमतः अन्तमुहूर्त मात्र काल में आत्मानुभूति करते ही रहते हैं। अतः इस आत्मध्यान में ही सम्पूर्ण श्रेष्ठताओं को समाहित माना गया है—

“गुण-शीलानि सर्वाणि, धर्माश्चात्यन्तनिर्मलः ।

सम्भाव्यते परं ज्यातिः ज्योतिस्तदेकमनुतिष्ठतः ॥”

—(पद्मनन्दि-पंचविंशतिः, एकत्वभावना, 42)

अर्थः— जो साधक यति उस चैतन्यज्योतिस्वरूप आत्मतत्त्व का ध्यान करता है, वही चौरासी लाख उत्तरगुणों का एवं अट्ठारह हजार प्रकार के शीलव्रतों का धारक है। उसी यति के निर्मल ध्यान होता है— ऐसा निश्चय से जानना चाहिये।

इसीलिये सिद्धों के ध्यान को ‘व्यवहार सामायिक’ एवं सिद्धसमान निज शुद्धात्मतत्त्व के ध्यान को ‘निश्चय सामायिक’ कहा गया है—

“सिद्धसरूवं ज्ञायदि, अहवा ज्ञाणुत्तमं ससवेदं ।

खणमैक्कमविचलणो, उत्तम-सामाइयं तस्स ॥”

—(आ० वसुनन्दि, तच्चवियारो, 8/166)

अर्थः— जो भव्यात्मा सिद्ध परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करते हैं, उसे ‘सामायिक’ कहा गया है। किंतु यदि वह क्षण भर के लिए भी अविचल (एकाग्रचित्त) होकर स्वसवेदन ध्यान करता है, तो उसके ‘उत्तम सामायिक’ होती है।

इस प्रकार से जब एकाग्र-चिन्तानिरोध की स्थिति होती है, उसी स्थिति को ‘शुद्धात्मा’ संज्ञा दी गयी है—

“एकाग्रचित्तानिरोधसमये शुद्धात्मा स्यात् ॥”

—(आ० अमृतचन्द्रसूरि, पवयणसारो, गा० 191 की टीका)

ऐसे आत्मध्यान करनेवाले ‘स्ववश’ साधक जीव को ‘जिनेन्द्र भगवान् से ‘किंचित् न्यून’ कहा गया है— “स्ववशो जीवनमुक्तः किंचिन्न्यूनो जिनेश्वरादेषः ॥”

—(णियमसारो, गा० 243 की टीका)

ऐसे स्वात्मनिष्ठ साधक जीव ही ‘कायोत्सर्ग’ तप या ‘व्युत्सर्ग तप’ को वस्तुतः कर पाते हैं— “कायादी परदब्बे थिर भावं परिहरित्तु अप्पाणं ।

तस्स हवे तणुसगं जो ज्ञायदि णिव्विदप्पेण ॥”

—(णियमसारो, गा० 121)

अर्थः— शरीर आदि परद्रव्यों में स्थिरता का या आसक्ति का भाव छोड़कर जो निर्विकल्प होकर आत्मा का ध्यान करता है, उसे ही निश्चय से ‘कायोत्सर्ग’ की प्राप्ति होती है। आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द ने ऐसे ‘कायोत्सर्ग’ को ‘मोक्षमार्ग का उपकारक’ एवं ‘घातिया कर्मों का विनाशक बताया है—

“काउत्सगं मोक्खपहे देहसमं घादिकम्म अदिचारं ।

इच्छामि अहिट्ठादुं जिणसेविद देसिदत्तादो ॥” —(मूलाचार, 7/651)

अर्थः— यह ‘कायोत्सर्ग’ मोक्षमार्ग का उपकारक है, घातिया कर्मों का विनाशक भी

है। इसे मैं हृदय से स्वीकार करता हूँ, क्योंकि इसका वीतराग जिनेन्द्र भगवन्तों ने सेवन किया है और उपदेश भी दिया है।

आगम-ग्रन्थों के आलोक में उपरिवर्णित विवरण से आत्मसाधना का मोक्षमार्ग में स्पष्ट महत्त्व सिद्ध है। इन आगमग्रन्थों के प्रमाणों का किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह से विरोध या उपेक्षा करने से सम्पूर्ण जैनशासन ही संकट में पड़ सकता है — ऐसा ज्ञानियों ने स्पष्टरूप से कहा है—

“नश्यत्येव ध्रुवं सर्वं श्रुताभावेऽत्र शासनम् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन श्रुतसारं समुद्धरेत् ॥
श्रुतात्तत्त्वपरामर्शः श्रुतात्त्वसमयवर्द्धनम् ।
तीर्थेशाभावतः सर्वं श्रुताधीनं हि शासनम् ॥

—(आ० यशःकीर्ति, प्रबोधसार, 3/63-64)

अर्थः— श्रुत (आगम) का अभाव (उपेक्षा, विरोध) करने पर तो समस्त जैनशासन का विनाश हो जायेगा। अतः हरसंभव प्रयत्न करके श्रुत के सारतत्त्व (सार पदारथ आत्मा) का उद्धार करना चाहिये। श्रुत 'शास्त्र' से ही तत्त्वों का परामर्श होता है और इससे ही जैनशासन की अभिवृद्धि होती है। तीर्थंकर-भगवन्तों के अभाव में जैनशासन श्रुत (आगम या शास्त्र) के ही अधीन है।

इन आगम ग्रन्थों के अनुसार जिसकी बुद्धि काम नहीं करती है, इन्हें स्वीकारने को तत्पर नहीं हो पाती है, उसे आचार्यों ने 'दुर्बुद्धि' या 'दुष्टबुद्धि' कहा है—

दुर्मेधव सुशास्त्रे वा तरणी न चलत्यतः ।”

—(आ० शुभचन्द्र, पाण्डवपुराण, 12/254)

अर्थः— दुष्टबुद्धि हितकारी शास्त्रों में चलाने पर (प्रिरित करने पर) भी नहीं चलती है।

अतः आगमग्रन्थों में निहित आत्महितकारी तथ्यों को उपादेयबुद्धि से समझना और स्वीकार करना ही मुख्य प्रयोजन है। तथा शास्त्रों में आत्मा का सच्चा हित कहा गया है—

“धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात् ।”

सभी धर्मानुरागीजन इसे बिना किसी पूर्वाग्रह के आगम के आलोक में स्वीकारें तथा अपना जीवन मंगलमय बनायें। ❖❖

संसारमार्ग और मोक्षमार्ग

मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्राणि संसारमार्गः । —(तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक)

अर्थः— मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संसार के कारण हैं।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः । —(तत्त्वार्थसूत्र 1/1)

अर्थः— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष के साधन हैं। ❖❖

अभीक्षण ज्ञानोपयोग

—आचार्य विद्यानन्द मुनिराज

‘यावति विन्दजीवोः’ । —(कातन्त्र, 4/6/9/799)

अर्थ:—यानि जब तक जीता है तब तक पढ़ता है ।

‘णं चाभीक्ष्ण्ये द्विश्च पदं’ । —(वही, 4/6/5/797)

प्रकाश से दृष्टि, प्रकाश से अभय

अज्ञान तिमिर है और ज्ञान आलोक । अज्ञान मृत्यु है और ज्ञान अमरता । अज्ञान विष है और ज्ञान अमृत । अज्ञान का आवरण रहते मनुष्य किसी बात को जान नहीं सकता । अन्धकार में चलने वाला किसी कूप-वाणी-तड़ाग में गिर सकता है, किसी विषधर नाग पर पाँव रख कर विषकीलित हो सकता है और आगे का पथ न सूझने के कारण मार्गच्युत भी हो सकता है; परन्तु जिसने दीपक हाथ में लिया है वह सुखपूर्वक पथवर्ती कील-कण्टकों से अपनी सुरक्षा करता हुआ गन्तव्य ध्रुवों को पा लेता है; इसीलिए प्रकाश या आलोक प्राणियों को प्रिय प्रतीत होता है । पूर्व दिशा से आलोक-किरण के दर्शन करते ही पक्षी आनन्द-कलरव करने लगते हैं; नीड़ छोड़कर विस्तृत गगन में उड़ चलते हैं; क्योंकि प्रकाश से उन्हें दृष्टि मिली है, अभय मिला है ।

ऋषियों ने ‘ऋग्वेद’ में उषा की स्तुति की है, क्योंकि उसी के अरुणगर्भ से सूर्य का जन्म होता है । वे अञ्जलिबद्ध होकर परमात्मा की प्रार्थना करते हुए याचना करते हैं— ‘तमसो मा ज्योतिर्गमय’ । (हि प्रभो ! ले चल हमें अन्धकार से प्रकाश की ओर); क्योंकि प्रकाश ही पदार्थों के साक्षात्कार में सहायक है । त्यागियों की चर्या प्रकाश की उपस्थिति में ही होती है । जब तक प्रकाश नहीं होता, उन्हें गमनागमन-निषेध है । ‘ईर्या समिति’ के पालन में आलोक सहायक है । यह आलोक जब आत्मनिरीक्षण में प्रवृत्त होता है, तब ‘ज्ञान’ कहलाता है । मनुष्य घट-पटादि पदार्थों को जैसे सूर्यालोक अथवा कृत्रिम प्रकाश (दीपकादि) द्वारा जानता है, वैसे ही वह ‘मृण्मयोऽयं घटः, तन्तुमयोऽयं पटः’ (यह घट मृत्तिकारूप तथा यह वस्त्र तन्तु-समूह रूप है) इसे ज्ञान द्वारा जानता है । जिसे ज्ञान नहीं है, वह घट तथा पट को देख कर भी उनके विषय में अपरिचित है । इसलिए जिसे जन्मना जिज्ञासावृत्ति मिली है, जिसमें शोध-चिन्तन की अभिलाषा जागृत है, वह ज्ञान

उपासना द्वारा ही वस्तुस्वरूप का निर्णय करने की उत्कण्ठा रखता है। मानव-शरीर में सभी अंग महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु नेत्रों का स्थान सर्वोपरि है। यदि नेत्र नहीं हैं, तो शरीर का भार पहाड़ हो जाता है। एक चरण की दूरी कोस भर लगने लगती है। संसार के रोचक विलास, पुष्पावलि के चित्ताकर्षक रंग, राजमार्ग पर अपने पैरों से निःशंक चक्रमण—सभी अदृष्ट हो कर जीवन की शून्यता से रिक्त कर देते हैं। वह अपने प्रियजनों का मुख नहीं देख सकता, स्वाध्याय नहीं कर पाता और हाथ-पैर होते हुए पंगु हो जाता है।

यही दयनीय स्थिति उसकी है, जो ज्ञान-नेत्रहीन है। 'हितं हित्वा हिते स्थित्वा दुर्धीर्दुःखायते भृशम्।' —(आत्मानुशासन 146) —कुबुद्धि मनुष्य हितमार्ग को छोड़कर तथा अहितमार्ग को अंगीकार कर अनेक दुःख उठाता है। सम्यग्ज्ञान-वंचितों के भाग्य में विपरीतार्थ-दर्शन-वृत्ति ही प्रातिस्विक रूप में प्राप्त है।

ज्ञानवान् के चरणों में कुण्ठा की अगति नहीं होती। वह पदार्थों के आभ्यन्तर एवं बाह्य—उभयस्वरूप को जानने से अपने द्वारा क्रियमाण व्यवहार तथा निश्चय में संशय-रहित होता है। भर्तृहरि ने विद्या तथा ज्ञान से वंचितों को मनुष्य शरीरधारी मृग (पशु) कहा है। इतना ही नहीं, वह तो यहाँ तक कहते हैं कि 'दुर्गम वनों में वनचरों के साथ कालक्षेप करना तो ठीक है, परन्तु महेन्द्र के स्वर्ग में भी मूर्खों की संगति में रहना उचित नहीं।' प्रशस्त जीवन की कला, जीवित रहने का फल, आनन्द के मार्ग, आत्मपरमात्म-परामर्श ग्राह्य-अग्राह्य-वस्तु-विज्ञान, निराकुलता इत्यादि की सम्प्राप्ति ज्ञान बिना संभव नहीं। चाहे कोई विद्वान् का शिष्य बने, परन्तु 'मूर्खों का पुरु' पद स्वीकार न करे। यह मोह भी अज्ञान से परिचालित है।

ज्ञान : कुछ घर से, कुछ बाहर से

अज्ञानी व्यक्ति नदी में पाँव रखता है, तो डूबने का भय है; यदि यज्ञवेदी पर बैठता है, तो जल जाने का डर है; यदि उसे फल खरीदने भेज दिया जाए, तो वह मधुर फलों को छोड़कर कटु-तिक्त-कषाय खरीद लेगा; क्योंकि न उसे अमृत का ज्ञान है और न विष की परीक्षा। वह हिताहित-ज्ञान से शून्य है; इसीलिए समाज (मनुष्य-जाति) में पाठशालाओं की विधि है। अनेक विषय उसे विद्याशालाओं में पढ़ाये जाते हैं और एकप्रकार से लौकिक ज्ञान प्रदानकर संसार-यात्रा के लिए उपयुक्त किया जाता है। पशु-पक्षी भी अपने-अपने अपत्यों (संतानों) को जातिगत-ज्ञान की परम्परा प्रदान करते हैं। इसप्रकार कुछ ज्ञान उसे घर से, कुछ बाहर से प्राप्त हो जाता है। यह ज्ञान के विषय में लौकिक अपेक्षा से किया गया सामान्य निर्वचन है।

आढ़ा हुआ ज्ञान

'हितानुबन्धि ज्ञानम्' ज्ञान के विषय में यह अत्यावश्यक परामर्श है कि वह हितानुबन्धी होना चाहिये; क्योंकि इसे आलोक अथवा प्रकाश कहा है। प्रकाश अग्नि से,

सूर्य से और दीपक से भी मिलता है। यदि कोई दीपक से पदार्थ-दर्शन के स्थान पर अपने वस्त्र जला ले, तो यह उसका दुरुपयोग होगा। यदि विज्ञान से विध्वंसक-प्रक्षेपास्त्रों का निर्माण किया जाता है और निर्माण अथवा मानव-कल्याण में उसको विस्मृत किया जाता है, तो यह दीपक लेकर कुयें में गिरने के समान होगा।

इसे ही कहते हैं—‘हेयोपादेयविज्ञान’। यदि ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् भी इतनी उपलब्धि नहीं हुई, तो शास्त्रपाठ ‘शुकपाठ’ ही रहा। ‘व्यर्थं श्रमः श्रुतौ’ कहते हुए ‘क्षत्रचूडामणि’-कार ने इसकी भर्त्सना की है। वस्तुतः जिसने अन्न को अपना रस, रक्त, माँस बना लिया है, उसी ने आहार का परिणाम प्राप्त किया है; किन्तु जिसके आमाशय में अजीर्ण-दोष है, वह उदर में रखने मात्र से अन्नभुक्ति के आरोग्य-परिणाम को प्राप्त नहीं कर सकता। जो ज्ञान को ऊपर से ओढ़कर घूमता है, उसके उत्तरीय को कभी कोई उतार ले सकता है; परन्तु जिसने ज्ञान को स्वसम्पत्ति के रूप में उपार्जित किया है, उसे कोई छीन नहीं सकता; अतः ज्ञानोपार्जन में ज्ञान की पवित्रता के साथ-साथ उसे अपने से अभिन्न प्रतिष्ठित करने की महती आवश्यकता है। जब अग्नि और उष्णता, जल और शीतलता के अविनाभावी-सम्बन्ध के समान गुण और गुणी एकरूप हो जाते हैं, तभी उनमें अव्यभिचारिभाव का उदय होता है। ज्ञानी और ज्ञान भी आधाराधेय मात्र न रहकर प्राण-सम्पत्ति होने चाहिये। ऐसे ज्ञान की उपासना में मनुष्य को शास्त्राग्नि में प्रवेश करना पड़ता है। ‘विदग्ध’ वही होता है, जो सुवर्ण के समान आगम-वह्नि-विशुद्ध हो। यदि ज्ञान-प्राप्ति में अपने को तपाया नहीं, श्रम तथा तप की अग्नि का साक्षात् उपासना नहीं की, तो वह ज्ञान ‘अदुःख-भाविता-ज्ञान’ है। ज्ञान को तप द्वारा पाने से यह आगे तप्त नहीं होता, ज्ञान में संसार के सभी दुःखों का चिन्तन कर लेने पर ज्ञान दुःखों से परित्राण करने में समर्थ होता है। कच्चा कुम्भ जैसे जलस्पर्श से विगलित हो जाता है, वैसे कोरा ज्ञान दुःख की आँच में दग्ध हो जाता है; अतः परिपक्व ज्ञान-प्राप्ति का उपाय-चिन्तन करना चाहिए।

यह ज्ञान मनुष्य-भव में ही हो सकता है, अतः प्राप्त करने में आलस्य नहीं रखना चाहिये। आचार्य गुणभद्र ने ‘आत्मानुशासन’ (94) में कहा है कि ‘प्रज्ञा (ज्ञान) दुर्लभ है और यदि इसे इस जन्म में प्राप्त नहीं किया, तो अन्य जन्म में यह अत्यन्त दुर्लभ है; क्योंकि अन्य जन्म मनुष्य पर्यायवान् हो, यह लिखित प्रमाण पत्र नहीं है; अतः एक जन्म का प्रमाद कितने इतने जन्मों के अन्तर विशोधनीय हो, यह अनिर्वचनीय है। धीमानों ने इसी हार्द को लक्ष्य में रखते हुए कहा है—‘प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि’ अर्थात् प्राणान्त होना ही मृत्यु नहीं है, प्रमाद ही मृत्यु है। अप्रमत्त को मृत्यु एक बार आती है; परन्तु प्रमादी प्रतिक्षण मरता है। ‘प्रमादे सत्यघःपातात्’ यही कहता है।

परिग्रहों का विसर्जन

प्रमाद की उर्वरभूमि मोह है। मोह के उदय से राग-द्वेष का उदय होता है। राग-द्वेष

को ज्ञानवह्नि ही दग्ध कर सकती है। मोह-व्रण की चिकित्सा के लिए ज्ञान का शल्योपचार आवश्यक है। इसीप्रकार अनन्त सुख की प्राप्ति के लिए मोहतरु का निर्मूलन अपेक्षित है। शास्त्राध्ययन करने पर भी मोहावस्था का कुहम (तम, अन्धकार) अन्तःकरण में विद्यमान है, तो पुस्तकों के पृष्ठ उलटने का श्रम किस काम का? 'बुद्धेः फलं ह्यात्महितप्रवृत्तिः' ज्ञान का वास्तविक लाभ सांसारिक विभुताओं का विस्तार करने की योग्यता नहीं है, देखा जाता है कि भौतिक वैभव तो अज्ञानतिमिरान्धों के पास भी प्रचुर है। ये 'देवागमनभोयानचामरादिविभूतियाँ' तो मायावियों के निकट भी हैं, किन्तु यह महत्त्व का सूचन नहीं है। ज्ञानी तो उसे कहना होगा, जिसने आत्महित को जान लिया है और शरत्काल में अपने सुन्दर पंखों का परित्याग करनेवाले मयूर के समान परिग्रहों का स्वतः विसर्जन कर दिया है।

कर्मसृष्टि के आदिकाल से समुद्रपर्यन्त पृथ्वी के शासन का परित्याग कर सन्यासरूप प्रशमैकवृत्ति को अंगीकार करने वाले श्रीवृषभ वर्द्धमानादिकों ने शास्त्रपरिणाम-को, बुद्धिसमागम को, विवेकख्याति को इसी आत्महित-प्रवृत्ति में नियोजित करते हुए समग्र विद्यात्मवपुष्मता तथा निरंजन पद प्राप्त किया है। भगवान् की ज्ञानात्मताका विजयी घोष उनके 'विश्वचक्षु' विशेषण में है। 'विश्वचक्षु' अर्थात् जिनके नेत्र विश्व-दृष्टा हैं, जो सर्वज्ञ के ज्ञानभास्वर पुण्याभिधान से लोकविश्रुत हैं; उन्हें 'चतुर्मुख' कहने का यही अभिप्राय है कि उनकी ज्ञानात्मिका दृष्टि यदि सर्वतोदिक् है, तो मुख-विवर्तन कर किसी दिशा विशेष में देखने का प्रयास उन्हें नहीं करना होता। अनन्त ज्ञान ही उनके अनन्त नेत्र हैं।

वास्तव में ज्ञान-विहीन को इन्द्रियाँ भी उपकारक नहीं हो पातीं तथा ज्ञानी नेत्रों की सहायता के बिना भी अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष करते रहते हैं। 'उपनिषद्' की भाषा में कहा गया है कि—'कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्व मिच्छन्' संसार के प्रायः सभी प्राणी अपनी इन्द्रियों को बहिर्मुख रखते हैं तथा बाहरी जगत् का आनन्द लेते हैं। उनमें कोई धीर पुरुष ऐसा भी होता है, जो अपनी इन्द्रियों की इस बहिर्वृत्ति का निरोध कर उसे अन्तर्मुख करता है तथा आत्मस्थित हो कर अमृतपान करने में समर्थ हो जाता है। 'उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले' इस स्वात्माराम स्थिति को आत्मलीनावस्था में सर्वज्ञ ही प्राप्त करते हैं 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' उस परमात्मा को न कोई कार्य है और न इन्द्रियाँ हैं।' उनका अन्तरंग एवं बहिरंग आत्मा है। उन्होंने आत्मभिन्न समस्त पौद्गलिक विभावों का परित्याग कर दिया है। जैसे सर्प ने कंचुकी उतार फैंकी हो, जैसे हिम-शिलाओं ने अपने तुषारकिरीट को उतार दिया हो, जैसे चन्दनकाष्ठ ने अपने-आपको दग्धकर नाम रूपात्मकता का विसर्जन कर दिया हो। उन्हें ही ज्ञान की वास्तविकता प्राप्ति हुई, ऐसा कहना चाहिये। आचार्यश्री समन्तभद्र ने आगमपरम्परागत

ज्ञान का निरूपण करते हुए कहा है कि वह ज्ञान अद्भुत क्षमतावान है। पदार्थ को जानने में वह उस वस्तु की, न तो एक कला न्यून करके जानता है और न अधिक बखानता है। वह ज्ञान उसे विपरीतार्थ में भी परिणत नहीं करता तथा सन्दिग्ध-अवस्था भी नहीं रखता। उसी ज्ञान को नैयायिक 'प्रमाण' नाम से पुकारते हैं। क्योंकि 'प्रमाण' हित की प्राप्ति में तथा अहित के निवर्तन में समर्थ है, उसे यथार्थ ज्ञान कहा जा सकता है। महात्माओं के वचन इसी ज्ञान को लक्ष्य करते हैं। पंडित दौलतरामजी ने 'छहढाला' में मुनियों के वचन को ज्ञान-सम्पन्न प्रतिपादित करते हुए कहा है कि—

जग सुहितकर सब अहितहर श्रुतिसुखद सब संशय हरैं ।

भ्रमरोगहर जिनके वचन मुखचन्द्र से अमृत झरैं ।।

हेयोपादेय विज्ञान

वे वचन संसार का हित करनेवाले, अहित-की-निवृत्ति में सहायक, कर्णप्रिय, समस्त संशयों का उच्छेद करने में समर्थ, तथा भ्रान्तिरूप महारोग के हरण करनेवाले हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका शब्द-प्रवाह मानो मुख-रूप इन्दु से अमृत की बिन्दुयें टपक रही हों। इस प्रचलित अर्थ से अलग यह पद भगवती जिनवाणी का भी वर्णन करता है। पण्डितजी ने 'जिनके वचन' कहते हुए यही विशेषार्थ ध्वनित किया है कि भगवान् जिनेन्द्र के वचन ही संसार के हितकारी हैं। अहितपराङ्मुख, श्रुति (कर्ण) को सुखदायी तथा समस्त संशय-विप्लावक हैं। वे ही भ्रमरोग हरनेवाले (चतुरशीतिलक्ष योनियों में परिभ्रमण के महारोग का मोक्षमार्ग द्वारा विनाश करने में कुशल) हैं तथा दिव्यध्वनि से अमृतवर्षी हैं। यह पद 'हेयोपादेय विज्ञान' के समस्तार्थ को द्योतित करते हुए जिनेन्द्र-वचन को 'सुहितकर तथा अहितहर-हिताहित-प्राप्तिपरिहारात्मक निरूपित करता है।

ज्ञान-दीप की प्रतिष्ठा

क्रिया क्रियाजनित-परिणामों से ही प्रशंसित होती है। गौ यदि शरीर से सुन्दर है, किन्तु दोग्ध्री नहीं है, तो उसका कायिक चारुत्व अभिनन्द्य नहीं होता; अर्थात् जैसे धेनु का रूप उसके क्षीरवर्षीस्तन हैं, नुकीले शृंग नहीं; वैसे ज्ञान का फल अज्ञाननिवृत्ति है। यदि ज्ञानवान् और अज्ञ व्यक्तिओं की क्रियायें समान हैं, उनमें ज्ञान ने अवरता और प्रवरता की भेद-रेखायें प्रसूत नहीं की है, तो वह अनियोजित ज्ञान है। 'न हि वह्निमहं जानामीति बुव्रन् तदाहशक्तिं प्रतिपद्यते न वा गुडमाचक्षाणो माधुर्यं स्वदते' किसी ने दूर से देखकर कह दिया कि 'मैं अग्नि को जानता हूँ, क्या उसने उसके दाहकत्व का स्पर्श भी किया है? अथवा कोई गुड का नाम ले ले, तो क्या गुडनिष्ठ मधुरता का अनुभव हो जाता है?

हेयोपादेय पदार्थों को जानकर यदि कोई उन्हें अँगुलिपर्वों पर गिन देता है, तो उसे 'ज्ञानखसूची' कहना संगत होगा। ज्ञान के नाम से आकाश की ओर मुख उठाकर तारे गिननेवाले निरे ज्ञानखसूची नहीं तो क्या हैं? ज्ञानार्जन का अभिप्राय है तन्मय हो जाना।

जब वह्नि और उष्णता के समान ज्ञान और ज्ञानी में एकीभाव हो, तब ज्ञान चरितार्थ समझना चाहिये। जलता हुआ दीपक देखकर कोई यह प्रश्न नहीं करता कि “क्या यह दीपक जल रहा है?” ‘प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्’ — हाथ कंगन को आरसी क्या; जिसने आत्मप्रदेश में ज्ञानदीप की प्रतिष्ठा की है, उसे देखकर दृष्टा को स्वतः प्रतीति होनी चाहिये कि वह किसी ज्ञानदीपित शक्ति के समक्ष उपस्थित है। इसे ही तो कहते हैं ‘मोक्षमार्गमवागमविसर्गं वपुषा निरूपयन्तं’; ऐसे मुनि महाराज, जो वाणी से उच्चारण किये बिना साक्षात् मोक्षमार्ग का अपने देह से ही निरूपण करने में समर्थ हों।’ इन्द्र जिनकी वीतराग-मुद्रा को सहस्र नेत्रों से अपलक देखकर थके नहीं। यह अधीत-स्वाध्याय का फल होना चाहिये, अन्तर्निविष्ट ज्ञान-ज्योति की चैतन्य-शलाका का प्रतिभासी उन्मेष होना चाहिये।

ज्ञानाग्नि में सर्वसमर्पण

जब अग्नि में काष्ठ डाला जाता है, तब अग्नि उसके नामरूप का हरणकर लेती है और ‘अग्नि’ इस स्वराज्य की एकमात्र नवीन संज्ञा से उसका सम्बोधन करती है। वह काष्ठ बाहर-भीतर अग्नि हो जाता है। ज्ञानाग्नि में जिसने अपना सर्वसमर्पण कर दिया, उसे ‘अवाग्विसर्ग’ की योग्यता अवश्य पानी चाहिए। कोई काष्ठ अग्नि में जाकर काठ नहीं रह जाता; फिर ज्ञान समर्पित व्यक्ति अभीक्षण उपयोग द्वारा तन्मय क्यों नहीं हो?

निर्धूम अंगार की ज्योति समस्त अग्नि से मिलती हुई होती है। काष्ठों की पृथक् जातियाँ वहाँ विलीन होकर निःशेष हो जाती हैं। ज्ञानाग्नि से समस्त कर्मन्धनों को जला देनेवाले परमात्मा रूप ही हो जाते हैं। आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि “हे भव्य ! लोकपत्ति में आने की इच्छा न रखते हुए शास्त्र को वैसा पढ़ो तथा प्रसिद्ध कायक्लेश के उपायों का आश्रय लिये बिना ही शरीर को भी उतना शुष्क कर लो कि दुर्जय कषाय-विषयों पर विजय पा सको; क्योंकि मुनि तप और शास्त्रस्वाध्याय-फलित ज्ञानार्जन का परिणाम शम (सर्वथा शांतिभाव में स्थिति, अशेष आकुलता-परिहाण) को ही मानते हैं।” अर्थात् शास्त्रपाठ कर लोग उसका प्रदर्शनरूप उपयोग करने लगते हैं, वे प्रतिपद बताते हैं कि “मैंने अमुक शास्त्र पढ़ा है, अमुक मुझे कंठस्थ है” तथा अपना कायक्लेश तो करते हैं; तथापि लोकों के समक्ष यह भी डिण्डिम-घोष प्रकारांतर से करते रहते हैं कि “मैं तनूदरी की ओर (अल्पाहार, उपवास आदि) विशेषरूप से अवधान रखता हूँ।”

वास्तव में तप और शास्त्रस्वाध्यायरूप क्रियायें बहिरंग प्रदर्शन का प्रत्याख्यान करती हैं। उनका प्राप्तव्य तो अन्तःशांति है। शमैकवृत्तिधनों का वह उपास्य-मार्ग है। शास्त्र पढ़कर लोकपत्ति में खड़े होनेवाले कभी सच्चे स्वाध्यायी नहीं हो सकते; क्योंकि उनके आत्मतोष का साधन लोकपत्ति है, ऊँचे मंच पर पाँच विद्वानों में बैठने से उन्हें सुख प्रतीति होती है। इसका प्रकारान्तर से यह अर्थ हुआ कि शास्त्राध्ययन के समय उन्हें

आनन्द की अनुभूति नहीं होती। ऐसी स्थिति में तो कहना चाहिये कि जैसे वारांगना अपने को बहुमूल्य वस्त्रालंकारों से सज्जित कर उससे तब तक सन्तुष्ट नहीं होती, जब तक उसका कोठे पर प्रदर्शन न कर ले। उसीप्रकार वह व्यक्ति जो ज्ञान को उसी पण्यवीथियों में खींच ले जाना चाहता है, तथा वहाँ प्राप्त 'वाह-वाह' से अपने स्वाध्याय को सिद्ध मानता है, वह भूल में है और गोपनीय मणि को अल्पमूल्य पर बेचकर सुख मानता है।

'ऋग्वेद' में इसी आशय को स्पर्श करती हुई एक ऋचा में कहा गया है कि 'विद्या ब्रह्मज्ञानी के पास आकर बोली — "मेरी रक्षा करो। मैं तुम्हारी निधि हूँ।" ब्रह्मज्ञानी ने पूछा—“अम्ब ! तुम्हारी रक्षा किस प्रकार करूँ? सरस्वती ने बताया— “गुणों में दोषदर्शी, शठ, मिथ्याभाषी, इन्द्रिय लोलुप व्यक्ति को मुझे मत देना। ऐसा करने से मैं वीर्यवती बनूँगी।”

अहो ! ज्ञान देने से पूर्व गुरु को ज्ञान लेनेवाले की परख करनी चाहिये। अपात्र को दिया गया दान मद्यपान अथवा द्यूत की भेंट भी हो सकता है; परन्तु लोग खट्टी छांछ करने के लिए तो पात्र-अपात्र का विचार रखते हैं और ज्ञान-संपत्ति को फटी हुई पॉकेट में पैसों की तरह रास्ते में बिखेरते चलते हैं; इसीलिए विद्या (ज्ञान) अपने वास्तविक फल में शून्य हो गयी। नौका पानी में ही स्थिर रहती है, मैदानों में निकलकर लोगों का आवाहन नहीं करती।

जिसे पार उतरना हो, वह स्वयं तट पर आकर शुल्क देता है। पुस्तक का मूल्य मात्र व्यवसाय के दृष्टिकोण से ही नहीं रखा जाता, उसे आवश्यक हाथों तक पहुँचाना भी उसका उद्देश्य होता है। ज्ञान अग्नि है, अग्नि का धर्म स्वाकारवृत्ति प्रदान करना है। यही ज्ञान का फल है। यह 'ज्ञान' रत्नत्रय के मध्य में विराजमान महामणि है। 'इन्द्रिय-रूप तस्कर इसे चुराने के लिए प्रतिपल उद्यत हैं। यहाँ मोहनिद्रावशीभूत होने से काम नहीं चलेगा। अहर्निश जागते रहना होगा।' प्रातःकाल के एक भजन में किसी ने बहुत सुन्दर प्रबोध-गीत गाया है—

“उठ, जाग मुसाफिर ! भोर हुई, अब रैन कहाँ जो सोवत है।

जो जागत है, सो पावत है, जो सोवत है, सो खोवत है।।”

प्रायः लोग शैया से तो प्रातःकाल देर-सवेर उठ ही जाते हैं; परन्तु सायंकाल रात्रि होते-होते पुनः शयन-कक्षों में पहुँच जाते हैं। उन्हीं अशित-भुक्त विषयों का अपरिवर्तित दैनिक आस्वादन करते-करते यम-मंदिर के दीप-मार्ग दिखाने आ पहुँचते हैं।

इसप्रकार भौतिक रात्रि तो प्रतिदिन अस्त होती रहती है; परन्तु अध्यात्म-दृष्टि से जीवन-पर्यन्त सवेरा नहीं हो पाता। सूर्य के प्रकाश में तो लौकिक तिमिर के नाश का अनुभव सभी करते रहते हैं, तथापि आत्मप्रकाश का प्रभाव बहुत कम व्यक्ति देख पाते हैं।

ज्ञान ही वह सूर्य है जिसके आलोक में आत्मा को अनस्तमित (कभी अस्त न होने

वाले) दिन की प्रतीत होती है। यह ज्ञान-रत्न जिसके पास हो, वह प्रमाद की शैया पर क्षणभर भी सो जाए, तो उसके लुटने का भय रहता है। फकीर तो कहीं भी सोये, उसकी फटी गुदड़ी को चोर नहीं लगते; परन्तु रत्न रखनेवाले की मूर्च्छा उसी के लिए हानिप्रद हो सकती है।

तीन त्याज्य, तीन ग्राह्य

प्रसमिद्ध (दीप्त) अग्नि की ज्वाला हवन-कुण्ड के ऊपर (बाहर) निकल कर आस-पास उपासीनों को अपनी सत्ता का भान कराने लगती है। इसीप्रकार अन्तःकरण में विराजमान ज्ञान-ज्योति आकृति पर प्रतिफलित होने लगती है। ज्ञानाकारवृत्ति की उस सिद्ध (निष्पन्न) अवस्था में आनन्द की अविरल पयस्विनी आत्म-समुद्र में अवतीर्ण होती है और नेत्र उसके प्रकाश से छिन्न-संशय आलोक से प्रदीप्त हो उठते हैं। उस ज्ञान से साम्यावस्था का प्रादुर्भाव होता है, जिसे अहिंसा-शक्ति के रूप में विश्व अनुभव करता है। 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः' (पातंजल योगदर्शन) अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर उस अहिंसक के समीप प्राणियों में वैरत्याग की भावना का उदय हो जाता है। तब मृगी सिंहशिशु का दुलार करने लगती है और गौ-वत्स के समान बाघपोत से वात्सल्य जताने लगती है। यह सहज शत्रुओं का पारस्परिक मैत्रीभाव है और जो स्वभावतः मित्र हैं उनमें तरंगित होने वाले स्नेह व्यापार का तो वर्णन कहाँ किया जा सकता है? यह अहिंसक परिणाम दुरारूढ़ ज्ञान तप की सिद्धि से ही संभाव्य है। ज्ञानी के नेत्र विषय-कषाय-परिछिन्न नहीं होते। उनमें विश्व मैत्री के मणिदीप जलते हैं। सकलार्थ-सिद्धियों की प्राप्ति ज्ञान से ही होती है। ज्ञान केवल लौकिक साध्यों की उपलब्धि में ही सहायक नहीं, उसकी पराकाष्ठा तो सर्वज्ञत्व में है। 'णत्थि परोक्खं किंचि वि' सर्वज्ञ से परोक्ष कोई पदार्थ नहीं है। ज्ञान का सर्वातिशायी परिणाम सर्वज्ञता में समाहित है और सर्वज्ञता का बीज कर्मक्षय में है। कर्मक्षयार्थ तुषमाष-रूप भेदविज्ञान की नितान्त आवश्यकता है।

'रत्नकरुण्ड श्रावकाचार' में तपस्वी के लिए तीन उपादेय और तीन त्याज्यों का निरूपण करते हुए लिखा है— जो विषयों की आशा से अतीत है, आरम्भ-त्यागी तथा परिग्रह-रहित है (इन तीनों को त्याग चुका है) एवं ज्ञान, ध्यान और तप में अनुरक्त है (इन तीनों पर दत्तावधान है) वह तपस्वी विशिष्ट है, तपस्वियों में श्रेष्ठ है। यहाँ ज्ञान को प्रमुख बताया गया है; क्योंकि ज्ञानपूर्वक किया गया उपवास ही व्रत है, ज्ञानपूर्वक परित्यक्त वस्त्रादि परिग्रह ही ग्रंथि-विमोक्ष है, ज्ञानपूर्वक परिसोढ़ परीषह ही तितिक्षा है। यदि इनमें ज्ञानानुपूर्वी न हो, तो वह उपवास अन्न अप्राप्तिजन्य बुभुक्षा है, वह निवस्त्रता प्रमाद अथवा अभाव है और वह परीषह कायरता मात्र है।

अभीक्षणता : ज्ञान के ध्रुवीकरण की प्रक्रिया

साधारणतः होने वाली मृत्यु तथा विधिपूर्वक ली गयी 'सल्लेखना में' ज्ञान-संयोग की

मुख्य विभेदक-रेखा है। ज्ञान द्वारा ही धर्म मार्ग-प्रभावना की जा सकती है। 'ज्ञानतपोदानजिनपूजाविधिना धर्मप्रकाशनं मार्ग प्रभावना' —(सर्वार्थसिद्धि, 6/24) धर्म के प्रकाशन में, अधर्म के निर्मूलन में, हितानुबन्धि-उपदेश में, ज्ञान मुख्य-सहायक है। इसीलिये 'सर्वार्थसिद्धि' में साधु के लिए सम्यग् ज्ञानाराधन में नित्य युक्तता को 'अभीक्षणज्ञानोपयोग' से अभिहित किया गया है। 'अभीक्षणं तु मुहुर्मुहुः' जीवादिपदार्थस्वतत्त्व-विषय में पुनः पुनः चिन्तन-मनन-निदिध्यासन करना अभीक्षणज्ञानोपयोग है। 'जीवादि पदार्थस्वतत्त्वविषये सम्यग् ज्ञाने नित्यं युक्तता अभीक्षणज्ञानोपयोगः' —(सर्वार्थसिद्धि, 6/24) जिसप्रकार गौ आदि पशु भुक्त शस्यादि का विश्राम के समय रोमन्थन (चर्वित-चर्वण) करते हैं, वैसे ही उस क्रिया द्वारा अशित — भुक्त पदार्थों का रसमय परिपाक प्राप्त करते हैं, वैसे ही अधीत विद्या का क्रियासमभिव्यक्ति (पौनःपुन्य) से मंथन करना अभीक्षण ज्ञानोपयोग है।

अभीक्षण ज्ञानोपयोग से श्रुतदृढ़ता की प्राप्ति होती है। जिसप्रकार गाय को बाँधने का खूँटा एक ही चोट में गहरा नहीं घँसता, उसे बार-बार हिला-हिलाकर ठोंककर सुदृढ़ किया जाता है, उसीप्रकार ज्ञान को ध्रुव करने की प्रक्रिया 'अभीक्षणता' में है। विद्या के विषय में किसी ने बहुत मार्मिक सूक्ति लिखते हुए कहा है—विद्या (ज्ञान) सौ बार के अभ्यास से आती है और सहस्र बार किये गये अभ्यास से स्थिर होती है। यदि उसे सहस्र बार सहस्र से गुणित किया जा सके तो वह इस जन्म में तथा जन्मान्तर में भी साथ नहीं छोड़ती। सतत अभ्यास का नाम ही अभीक्षण ज्ञानोपयोग है। 'पनिहारिन की लेज सौ सहज कटै पाषाण' बार-बार शिला पर सरकती हुई रज्जु पत्थर को भी काट देती है।

अभीक्षण ज्ञानोपयोग के मूल में अविच्छिन्न आत्मध्यान की भावना है; क्योंकि ज्ञानोपयोग के अभाव में मन को संभालना कठिन हो जाता है। 'श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम्' —'यह मन वानर है, चंचल है, अतः अपनी चंचलता को छोड़ेगा नहीं' —ऐसा विचारकर इसे शास्त्रवृक्ष के स्कन्धदेश पर अवरोहरण करने का अजस्र क्रम दे दिया जाए, तो यह उसी में लगा रहेगा।

'अभ्यासेन तु कौन्तेय' कहते हुए गीता में मनोनिग्रह का उपाय अभ्यास को बताया गया है। अभीक्षणता अभ्यास का ही नामान्तर है। 'अज्ज्ञयणमेव ज्ञाणं' सूत्र में 'एव' पद अभीक्षणता का ही बोधक है। 'धर्मश्रुत धनानां प्रतिदिनं लवो पि संगृह्यमाणो भवति समुद्रादप्यधिकः' (सोमदेव, यशस्तिलकचम्पूः) —धर्म, शास्त्र तथा धन का लवसंग्रह भी कालान्तर में समुद्र समान बन जाता है।' अतः 'क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थं च चिन्तयेत्' क्षण-क्षण से विद्योपार्जन होता है, ऐसा विचारते रहना चाहिए। ज्ञान को आत्म-सम्पत्ति बना लेने के पश्चात् सम्पूर्ण पदार्थ स्वयं उसमें समाहित हो जाते हैं।

'सयं अद्वा णाणाट्टिदा सव्वे' —(प्रवचनसार, 35)।

आत्मा में सब कुछ

ज्ञान-की पिपासा कभी शान्त नहीं होती। ज्ञान प्रतिक्षण नूतन है, वह कभी जीर्ण या पुराना नहीं पड़ता। स्वाध्याय, चिन्तन, तप, संयम ब्रह्मचर्य आदि उपायों से ज्ञान-निधि को प्राप्त किया जाता है। जो चिन्तन के समुद्र पी जाते हैं, स्वाध्याय की सुधा का निरंतर आस्वादन करते रहते हैं। संयम पर सुमेरु समान अचल—स्थिर रहते हैं, वे ज्ञान-प्रसाद के अधिकारी होते हैं। ज्ञानवान् सर्वज्ञ हो जाता है। जिस विषय का स्पर्श करता है, वह उसे अपनी गाथा स्वयं गाकर सुना देता है। दर्पण में जैसे बिम्ब दिखता है, वैसे उनकी आत्मा में सब कुछ झलकने लगता है।

ज्ञानाराधना में डूबे हुए लोग

ज्ञान के पथिकों का मार्गदर्शन स्वयं भगवती सरस्वती करती है। न्यायशास्त्र के वैदिक विद्वान् कणाद महर्षि के विषय में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि वे हर समय ग्रंथावलोकन में दत्त-चित्त रहते थे। एक दिन मार्ग चलते-चलते पुस्तक पढ़ रहे थे कि किसी कूप में गिर पड़े; परन्तु वहाँ भी गिरते ही उठ बैठे और पुस्तक पढ़ने लगे। उनकी विद्यानिष्ठा से भगवती प्रसन्न हुई और प्रकट होकर कहा— क्या चाहते हो? महर्षि ने कहा—मार्ग में चलते समय पढ़ सकूँ, इसलिये पैरों में दो आँख लगा दो। तब से उनका नाम 'अक्षपाद' हो गया।

ऐसे ही एक अन्य विद्वान् हुए हैं, जिनका नाम 'वाचस्पति' था। बीस वर्ष तक एक दार्शनिक व्याख्या-ग्रंथ लिखते रहे और घर में उपस्थित पत्नी का भी उन्हें पता नहीं चला। बीस वर्ष बाद ग्रन्थ समाप्ति पर उन्हें ज्ञान हुआ कि बीते वर्षों में निरन्तर कष्ट सहनकर ग्रन्थ-लेखन में निराकुलता देने वाली यह मेरी पत्नी है। उन्होंने पत्नी के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करते हुए ग्रन्थ का नाम 'भामती' रखा, जो उनकी उस साध्वी पत्नी का नाम था और उसे अमर कर दिया। आज वैदिक दर्शनधारा के विद्वान् वाचस्पति को कम और 'भामती' को अधिक जानते हैं।

ज्ञानाराधना में डूबे हुए लोग भोजन का स्वाद भूल जाते हैं; दिन-रात का भान भूल जाते हैं। पदार्थ-तत्त्व-जिज्ञासा में वे तल्लीन हो जाते हैं। उन्हीं के सामने वस्तुस्वरूप व्यक्त होता है। अभीक्षण ज्ञानोपयोग की महिमा का सर्वथा वर्णन कर सकना कठिन है।

देहरी-दीपक

अभीक्षण ज्ञानोपयोग का शास्त्रीय अर्थ है—जीवादि पदार्थ-रूप स्वतत्त्वविषयक सम्यग्ज्ञान में निरंतर लगे रहना। 'अभीक्षण' शब्द का अर्थ है निरन्तर, बार-बार अभीक्षणं तु मुहुर्मुहुः (अमरकोष) और ज्ञानोपयोग के समास-भेद से दो अर्थ हैं— 1. ज्ञान का उपयोग तथा 2. ज्ञान और उपयोग अथवा ज्ञानपूर्वक आत्मा का उपयोग। ज्ञान-चेतना और दर्शन-चेतना। ज्ञान जीवन का लक्षण है। दर्शन के साथ ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है।

दर्शन-ज्ञान के अनुसार उपयोग अर्थात् योग का सामीप्य-चारित्र-पालन होता है। इसप्रकार ज्ञानोपयोग यह शब्द सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का प्रतिपादक है। जैसे, भवन की देहली पर धरा हुआ दीपक प्रकोष्ठ के भीतर और बाहर दोनों ओर प्रकाश करता है, वैसे ज्ञानोपयोग शब्द दर्शन और चारित्र का समाहार करता है। फलितार्थ यह हुआ कि दर्शन-ज्ञान-चेतनायुक्त जीवन (आत्मा) निरन्तर अपने चारित्रात्मक उपयोग में लगा रहे।

बिना ज्ञान चारित्र व्यर्थ

यद्यपि जीव ज्ञान-चेतनात्मक है, तथापि उसका ज्ञानपरक उपयोग यदि नहीं किया जाये, तो सक्रिय हुआ मनोव्यापार व्यक्ति के लिये अनर्थ-परंपराओं की सृष्टि करने लगेगा; अतः जैसे खंगधारा को तेज किया जाता है, वैसे आत्मतत्त्व-विषयक नित्य निमग्नता के लिए ज्ञान का उपयोग करते रहना ही आत्मोपलब्धि का मार्ग है। सम्यग्दर्शन का फल सम्यग्ज्ञान है और सम्यक्चारित्र सम्यग्ज्ञान से परिशीलित है। बिना ज्ञान के चारित्र व्यर्थ है।

“क्लिश्यन्तां स्वयमेव... ज्ञानं ज्ञानगुणं बिना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते नहि” —यह श्लोक पुकार-पुकार कर कहता है कि चारित्र का पालन ज्ञानपूर्वक होना चाहिये। अन्यथा अज्ञान से, प्रमाद से, उन्माद से कोई नग्न हो जाये और संयोग से उसे मोरपंख और कोई तुम्बी पड़ी मिल जाए, तो उन्हें उठाकर वह महाव्रती निर्ग्रन्थ तो नहीं बन जायेगा। दिगम्बर-मुद्रा (वीतराग मुद्रा) उसी के मानी जायेगी, वही अष्टविंशति मूलगुणों का पालक है, गुरु-परम्परा से दीक्षित है।

सर्वोच्च स्थिति

‘नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते’ गीता में कहा है कि ज्ञान के समान पवित्र कुछ नहीं है। स्व-पर-विवेक, हेयोपादेय-विज्ञान, आत्मरति तथा परविरति ज्ञानोद्भव होती है। इसी विचार से महाव्रती साधु अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग में लगे रहते हैं। सर्वज्ञ शब्द ज्ञान की सर्वोच्च स्थिति है। ध्यानाग्नि में सब कर्म क्षणमात्र में भस्म हो जाते हैं और वह ध्यानाग्नि ज्ञान-रूप काष्ठ से प्रकट होती है।

अन्धकार में नहीं डूबता

स्वाध्याय ज्ञानोपयोग का व्यवहारमार्ग है और मैं शुद्ध, मुक्त परमात्मा हूँ। आत्मस्वरूप हूँ, वह ज्ञानोपयोग का निश्चय परिणाम है। जैसे हम ग्रन्थ के अक्षरों को अर्थ रूप में परिणत कर उपयोगी बना लेते हैं, वैसे ज्ञान से विश्व के समस्त पदार्थ अपने वास्तविक स्वभाव में प्रतीत होने लगते हैं। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी अज्ञान के अन्धकार में नहीं डूबता; क्योंकि ज्ञानोपयोगरूप सूर्य को जाग्रत रखता है।

अविचल ज्ञान-निष्ठा

अभीक्षण ज्ञानोपयोग आत्मशान्ति और निराकुलता उत्पन्न करता है। ज्ञानोपयोगी को बाहरी भान भूल जाता है। संस्कृत-व्याकरण के कर्त्ता महर्षि पाणिनि शिष्यों को पढ़ा रहे थे। उसी समय एक शेर आ गया। शिष्यों ने भयभीत हो कर भागते हुए कहा— “आचार्य व्याघ्र-व्याघ्र !” परन्तु पाणिनि भागे नहीं। उन्होंने व्याघ्र शब्द की मूल-निरुक्ति प्राप्त की। उन्होंने कहा— ‘व्याजिघ्रति इति व्याघ्रः’ जिसकी सूँघकर पहचानने की शक्ति प्रधान हो, उसे व्याघ्र कहते हैं। इधर वे शब्द के सुन्दर भावात्मक अर्थ में खोये हुये थे कि व्याघ्र उन्हें खा गया; परन्तु चाहे सर्प, व्याघ्र, हाथी किसी का भी भय उपस्थित हो, जो अभीक्षण ज्ञानोपयोग में लगे हुए हैं उन्हें ज्ञान से व्यतिरिक्त कुछ नहीं सूझता। उनकी सामयिक, समाधि, ज्ञाननिष्ठा पर्वतों के विस्फोट से भी विचलित नहीं होती।

संयम : अचंचल मनःस्थिति

मन, वचन, और काय-संयम से ज्ञान का अकम्प-दीपक जलता है। जो इन तीनों को त्रिवेणी-संगम नहीं दे सकता, उसके चंचल मन की आँधियाँ ज्ञान-दीपक को निर्वापित करने का प्रयत्न करती रहती हैं। सद्-असद् का विवेक ज्ञान द्वारा ही संभव है। संसार में भी ज्ञान का अभीक्षण उपयोग करना होता है। माता, भगिनी, पत्नी, सुता इत्यादि के साथ साक्षात्कार होते ही ज्ञानोपयोग से व्यवहार-स्थिरता उत्पन्न होती है। ज्ञानशून्य को ‘पागल’ कहते हैं। इस लोक तथा परलोक में मार्गदर्शक ज्ञान ही है। जैसे सूर्य की उपस्थिति में सभी पदार्थ दिखाई देने लगते हैं और अन्धकार में नहीं सूझते, वैसे ज्ञानबल से भौतिक-आत्मिक विज्ञान की उपलब्धि सुगम हो जाती है। भगवान् को केवल ज्ञान प्राप्त होने से ही कैवल्य (मुक्ति) की प्राप्ति हुई। दिव्यध्वनि सर्वज्ञ की सर्वोत्तम ज्ञान-घन-गर्जना ही तो है। ‘त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नवपदसहितं जीवषट्कालेश्या’ — इत्यादि यह जैनागम की सिद्ध-मान्यतायें गम्भीर ज्ञान-गवेषणा के ही परिणाम हैं। ❖❖

जीवन भर स्वाध्याय करें

‘यावति विन्दजीवोः’। —(कातन्त्र, 4-6-9 11 799 11 पृष्ठ 237)

वृत्ति—‘यावज्जीवमधीते। यावन्तं जीवति तावन्तं अधीते इत्यर्थः’।

अर्थः—जब तक जीता है तब तक पढ़ता ही है। (बिना स्वाध्याय के धर्मानुरागी के जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। विशेषतः साधुओं के लिए तो यह अति अनिवार्य है।) कहा भी है—‘कंठगदे वि पाणे हि, साहुणा आगमो हु कादव्वो’।

—(आचार्य शिवार्य, भगवती आराधना, 153)

अर्थः—प्राण कंठ में आ बसे हों अर्थात् प्राणानत होने ही वाला हो, उस समय में भी साधुजनों के लिए आगमग्रंथों का ही स्वाध्याय करना चाहिए। शेष जीवन में तो करना ही चाहिए। ❖❖

‘कुमारःश्रमणादिभिः’ सूत्र का बौद्ध-परम्परा से सम्बन्ध नहीं है

—डॉ० सुदीप जैन

पाणिनीय व्याकरणग्रंथ ‘अष्टाध्यायी’ के द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में 70वाँ सूत्र आता है—“कुमारः श्रमणादिभिः ।” इसकी वृत्ति है—“कुमारशब्दः श्रमणादिभिः सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ।”

यह प्रकरण तत्पुरुष समास का है तथा व्याकरण की दृष्टि से यह एक सामान्य उल्लेख मात्र है, परन्तु भारतीय परम्परा के अध्ययन की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं विचारणीय प्ररूपण है। इस सूत्र की वृत्ति में दृष्टान्त के रूप में ‘कुमारीश्रमणा’ एवं ‘कुमारश्रमणा’ पदों का प्रयोग मिलता है। तथा इसकी विवृत्ति में ‘श्रमण’ शब्द का अर्थ Labouring, Toiling अर्थात् ‘श्रमशील’ एवं ‘सहनशील’ दिया गया है।

कुछ विद्वानों ने भारतीय सांस्कृतिक इतिहास एवं परम्परा की व्यापक जानकारी के अभाव में इस सूत्र में कथित ‘श्रमण’ पद का सम्बन्ध बौद्ध-परम्परा से जोड़ दिया है। अतः यह गंभीरतापूर्वक मननीय है कि वस्तुतः क्या पाणिनी ने इसका प्रयोग बौद्ध भिक्षुओं या भिक्षुणियों के लिए किया था? यदि हम ‘श्रमण’ शब्द की परम्परा एवं इतिहास पर व्यापक दृष्टिपात करें, तो हम पाते हैं कि ‘श्रमण’ परम्परा बौद्धधर्म की उत्पत्ति से बहुत काल पहिले से ही भारत के अविच्छिन्न रूप से विद्यमान थी। स्वयं महात्मा बुद्ध भी संसार से विरक्त होने के बाद निर्ग्रन्थ जैन-श्रमण के रूप में ही दीक्षित हुये थे, क्योंकि उस समय वैदिक एवं श्रमण —ये दो ही धारयें विद्यमान थीं। क्रियाकाण्डप्रधान वैदिकधारा से वैचारिक तालमेल न हो पाने के कारण वैराग्यप्रधान जैन श्रमण-परम्परा के साधु पिहिताम्रव से उन्होंने निर्ग्रन्थ श्रमण दीक्षा ली थी। ये श्रमण पिहिताम्रव तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की परम्परा के साधु थे। इस बारे में आचार्य देवसेन ने ‘दर्शनसार’ नामक ग्रंथ में लिखा है—

“सिरि-पासणाह-तित्थे सरयूतीरे पलास-णयरत्थो ।

पिहियासवस्स सिस्सो महासुदो बुड्ढकित्तिमुणी ।। 6 ।।

अर्थः—श्री पार्श्वनाथ भगवान् के तीर्थ (परम्परा) में सरयू नदी के किनारे पलाश

नामक नगर में विराजमान श्री पिहितास्रव मुनि के शिष्य बुद्धकीर्ति मुनि हुये ।

इससे स्पष्ट है कि दीक्षोपरांत उनका नाम 'बुद्धकीर्ति' हुआ था तथा यह नाम उन्होंने यावज्जीवन अपनाये रखा । इसीलिये निर्ग्रन्थ जैनश्रमण की परम्परा से अलग होने पर भी उन्होंने अपना नाम 'गौतम बुद्ध' ही रखा और इसीकारण उनकी परम्परा आज भी 'बौद्ध-परम्परा' कहलाती है । उनके जन्मनाम व कुल में 'बुद्ध' संज्ञा कहीं नहीं थी । अतः यह उनका दीक्षोपरान्त नाम था, जो उनके साथ अभिन्नरूप से जुड़ गया ।

अपने निर्ग्रन्थ जैनश्रमण होने के प्रमाण उन्होंने स्वयं दिये हैं । 'मज्झिमनिकाय' के 'महासीहनादसुत्त' (12) में वे लिखते हैं—

“अचेलको होमि, हत्थापलेखनो, नाभिहतं न उदिदस्सकतं न निमंतणं सादियामि, सो न कुम्भीमुखा परिगण्हामि न कलोपिमुखा परिगण्हामि, न एलकमंतरं न दण्डमंतरं न मुसलमंतरं, न दिन्नं भुंजमानानं, न गब्भनिया, न पायमानया, न पुरिसंतरगतां न संकित्तिसु न यथ सा उपट्ठतोहोति, न यथ भक्खिका संड-संड चारिनी, न मच्छं न मासं न सुरं न मरेयं न थुसोदकं पिवामि, सो एकागारिको....एकाहं व आहारं इति एयरूपं अद्धमासिकं पि परियाय मत्तभोजनानुयोगं अनुयुतो विहारामि, केस्स-मस्सुलोचको वि होमि, केसमस्सुलोचानुयोगं अनुयुत्तो, पावउद बिंदुमिह् पिये दया पच्च पट्ठिता होति । माहं खुद्वके पाणे विसमगते संघात आयादेस्संति ।”

अर्थ:—मैं (दीक्षोपरान्त) वस्त्ररहित (नग्न) रहा, मैंने अपने हाथों से आहार लिया । न लाया हुआ भोजन किया, न अपने उद्देश्य से बनाया हुआ भोजन लिया, न निमन्त्रण से घर जाकर भोजन किया, न बर्तन में खाया, न थाली में खाया, न घर की ड्यौढ़ी में खाया, न खिड़की से भोजन किया, न मूसल से कूटने के स्थान (ओखली) से लिया, न गर्भिणी स्त्री से लिया, न बच्चे को दूध पिलानेवाली स्त्री से लिया, न पुंश्चली स्त्री से लिया । मैंने वहाँ से भी भोजन नहीं लिया, जहाँ कुत्ता पास खड़ा था या जहाँ पर मक्खियाँ भिनभिना रहीं थीं । मैंने न मछली, न मांस, न मदिरा, न सड़ा हुआ मांड खाया और न ही तुस का मैला पानी पिया । मैंने एक ही घर से भोजन लिया, सो भी (एक दिन में) एक ही बार लिया । मैंने दिन में एक ही बार भोजन किया और कभी-कभी पन्द्रह दिनों तक भोजन नहीं किया (अर्थात् पाक्षिक उपवास किया) । मैंने मस्तक, दाढ़ी व मूछों के केशलेंच किये । उस केशलेंच-क्रिया को मैंने चालू रखा । मैं एक बूँद पानी पर भी दयालु रहता था । छोटे से जीव को भी मेरे द्वारा हिंसा न हो —इस तरह मैं सतत् सावधान रहता था ।

वहाँ वे आगे लिखते हैं—

“सो तत्तो सो सीनो एको मिसनके वने ।

नग्गो न च आगिं असीनो एकनापसुतो मुनीति ।।”

अर्थ:—इस तरह कभी गर्मी, कभी ठंडक को सहता हुआ मैं भयानक वन में नग्न

रहता था। मैं (ठंड दूर करने के लिये) आग से नहीं तापता था। मुनि अवस्था में एकाकी रहकर ध्यान में लीन रहता था।

ध्यातव्य है कि उपर्युक्त नग्न रहना, केशलेंच करना, एक बार दिन में खड़े-खड़े अपने हाथों से आहार लेना, आहारशुद्धि (अनुद्दिष्ट आहार, निरतिचार आहार आदि) का पालन करना, अनेकविध प्राकृतिक शीत आदि परिषहों को सहन करना — ये सब क्रियायें दिगम्बर जैनश्रमण की हैं। बुद्ध के द्वारा अपने जीवनचरित के रूप में इन सबका वर्णन करने से स्पष्ट है कि बुद्ध सर्वप्रथम निर्ग्रन्थ दिगम्बर जैनश्रमण ही बने थे; तथा जब उनसे यह कठोर चर्या नहीं निभ सकी, तो उन्होंने काषाय (गिर्ये) कपड़े पहिनकर, पात्र में लोगों के घरों से भिक्षा लाकर भोजन करना प्रारंभ किया। इसप्रकार वस्त्र-पात्र आदि रखकर वे मध्यमार्गी साधुवेश में तपस्या करने लगे।”

इससे स्पष्ट है कि जैनसाधना का सूत्रधार श्रमणों की परम्परा महात्मा बुद्ध के बहुत पहिले से विद्यमान थी। विख्यात मनीषी डॉ० रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं—

“जैन-साधना जहाँ एक ओर बौद्ध-साधना का उद्गम है, वहीं दूसरी ओर वह शैवमार्ग का भी आदिम्रोत है।” —(संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 738)

इतना ही नहीं, बौद्धधर्म के प्रचारक के रूप में कहे जाने वाले प्रियदर्शी सम्राट् अशोक के पूर्वज पितामह-सम्राट् चन्द्रगुप्त एवं पिता सम्राट् बिन्दुसार स्वयं जैन थे। तथा सम्राट् अशोक ने भी राज्याभिषेक के आठ वर्ष तक एक जैन के रूप में ही अपनी आस्था रखी, बाद में बौद्धधर्म से प्रभावित होने के बाद में जैनसंस्कार उसने नहीं छोड़े। इस बारे में उद्धरण द्रष्टव्य है—

“भारत के सीमान्त से विदेशी सत्ता को सर्वथा पराजित करके भारतीयता की रक्षा करनेवाले सम्राट् चन्द्रगुप्त ने जैन-आचार्य श्री भद्रबाहु से दीक्षा-ग्रहण की थी। उनके पुत्र बिम्बसार थे। सम्राट् अशोक उनके पौत्र थे। कुछ दिन जैन रहकर अशोक पीछे बौद्ध हो गये थे।” —(श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार, 'कल्याण' मासिक, पृष्ठ 864, सन् 1950)

"So slight seemed to Asoka difference between Jainism and Buddhism that, he did not think it necessary to make a public profession of Buddhism till about his 12th reign (247 B.C.) so that nearly, if not all, his rock inscriptions are really those of a Jain sovereign."

—('Science of comparative religions' by Major General J.S.R. Forlong, Page 20, Published in 1897)

अर्थ:—जैन और बौद्ध धर्म के मध्य राजा अशोक इतना कम भेद देखता था कि उसने सर्वसाधारण में अपना बौद्ध होना अपने राज्य के 12वें वर्ष में (247 ई०पू०) कहा था। इसलिए करीब-करीब उसके कई शिलालेख 'जैनसम्राट्' के रूप में हैं।



जैनसमाज का महनीय गौरव-ग्रन्थ कातन्त्र-व्याकरण

—प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन

जैनाचार्यों ने कठोर तपस्या एवं अखण्ड दीर्घ-साधना के बल पर आत्मगुणों का चरम विकास तो किया ही, परहित में भी वे पीछे नहीं रहे। परहित से यहाँ तात्पर्य है, लोकोपकारी अमृतवाणी की वर्षा; अथवा प्रौढ़-लेखनी के माध्यम से ऐसे सूत्रों का अंकन, जिनसे सामाजिक गौरव की अभिवृद्धि, सौहार्द एवं समन्वय तथा राष्ट्रिय एकता और अखण्डता की भावना बलवती हो। निरतिचार अणुव्रत एवं महाव्रत उसकी पृष्ठभूमि रही है। साधक महापुरुषों के इन्हीं पावन-सन्देशों के संवाहक कल्याणमुनि, कोटिभट्ट श्रीपाल, भविष्यदत्त एवं जिनेन्द्रदत्त प्रभृति ने देश-विदेश की सोदृश्य यात्रायें कर युगों-युगों से वहाँ जैन-संस्कृति के प्रचार-प्रसार के जैसे सर्वोदयी सत्कार्य किये, उनका चिन्तन कर हमारा मस्तक गौरवोन्नत हो उठता है। इस विषय में डॉ० कामताप्रसाद, डॉ० कालिदास नाग, मोरिस विंटरनिट्स, डॉ० मोतीचन्द्र, डॉ० बी०एन० पाण्डे आदि प्राच्यविद्याविदों ने काफी प्रकाश डाला है। कम्बोडिया के उत्खनन में अभी हाल में एक विशाल प्राचीन पंचमेरु जैनमंदिर का मिलना उन्हीं उदाहरणों में से एक है। वहाँ के उत्खनन में आज विविध जैन पुरातात्विक सामग्री मिल रही है। डॉ० बी०एन० पाण्डे के अनुसार लगभग 2000 वर्ष पूर्व इजरायल में 4000 दिगम्बर जैन साधु प्रतिष्ठित थे। प्राचीन विदेश यात्रियों ने भी इसीप्रकार के संकेत दिये हैं। उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका, मैक्सिको, यूनान, जर्मनी, कम्बोडिया, जापान एवं चीन आदि में उपलब्ध हमारी सांस्कृतिक विरासत हमारे विश्वव्यापी अतीतकालीन स्वर्णिम-वैभव की गौरवगाथा गाती प्रतीत हो रही है।

यहाँ मैं कुछेक ग्रन्थों में से एक ऐसे गौरव-ग्रन्थ की चर्चा करना चाहता हूँ, जो कहने के लिये तो व्याकरण जैसे नीरस विषय से सम्बन्ध रखता है; किन्तु उसकी प्रभावक गुणगरिमा, सरलता, सर्वगम्यता, लोकप्रचलित समकालीन शब्द-संस्कृति का अन्तर्लीनीकरण तथा ज्ञानसंवर्धक प्रेरक शक्ति जैसी विशेषताओं के कारण वह सभी धर्मों, सम्प्रदायों, जातियों या अन्य विविध संकीर्णताओं से ऊपर है। तथा जिसने देश-विदेश के बुद्धिजीवियों एवं चिन्तकों की विचार-शृंखला को युगों-युगों से उदबुद्ध किया है, बौद्धों ने न केवल उसका अध्ययन किया, बल्कि उस पर दर्जनों टीकायें एवं व्याख्यायें भी लिखी, वैदिक विद्वानों ने उसकी श्रेष्ठता स्वीकार कर उस पर दर्जनों ग्रन्थ लिखे। सामान्य जनता को जिसने भाषा-विचार की प्रेरणा दी, छात्रों

के बौद्धिक-विकास में जिसने चमत्कारी सहायता की और इनसे भी आगे बढ़कर, जिसने सामाजिक सौहार्द एवं भारत की राष्ट्रिय एकता तथा अखण्डता का युग-सन्देश दिया। वस्तुतः यह था— जैन आदर्शों, जैन सांस्कृतिक-वैभव तथा उसके प्रतिम-विकास का एक अनुपम आदर्श उदाहरण, जिसका शानदार प्रतीक बना 'कातन्त्र-व्याकरण'।

आचार्य भावसेन 'त्रैविद्य' (त्रैविद्य अर्थात् आगमविद्, शास्त्रविद् एवं भाषाविद्) ने 'कातन्त्र-व्याकरण' के विषय में लिखा है कि "उसका प्रवचन मूलतः आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव ने किया था, जिसका संक्षिप्त सार परम्परा-प्राप्त ज्ञान के आधार पर आचार्य शर्ववर्म ने सूत्र-शैली में तैयार किया था।"

कातन्त्र-व्याकरणकार शर्ववर्म का जीवनवृत्त अज्ञात है। रचनाकाल का भी पता नहीं चलता। 'कथासरित्सागर' के अनुसार वे राजा सातवाहन या शालिवाहन के समकालीन सिद्ध होते हैं। किन्तु व्याकरण-साहित्य के कुछ जैनेतर इतिहासकारों ने विविध साक्ष्यों के आधार पर उनके रचनाकाल पर बहुआयामी गम्भीर विचार किया है। पं० भगवद्दत्त वेदालंकार ने शर्ववर्म का रचनाकाल विक्रम-पूर्व 500 वर्ष स्वीकार किया है, जबकि पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने महर्षि पतंजलि से लगभग 1500 वर्ष पूर्व का माना है और उसके प्रमाण में उन्होंने अपने महाभाष्य में उल्लिखित 'कालापक' (अर्थात् कातन्त्र-व्याकरण) की चर्चा की है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि शर्ववर्म महर्षि पतंजलि के भी पूर्ववर्ती थे। पतंजलि का समय ई०पू० लगभग चतुर्थ सदी माना गया है।

उन्होंने (पतंजलि ने) अपने समय में 'कालापक' अर्थात् 'कातन्त्र-व्याकरण' का प्रभाव साक्षात् देखा था और प्रभावित होकर अपने 'महाभाष्य' (सूत्र 1671) में स्पष्ट लिखा है कि 'ग्राम-ग्राम, नगर-नगर में सभी सम्प्रदायों में उसका अध्ययन कराया जाता है'—

"ग्रामे-ग्रामे कालपकं काठकं च प्रोच्यते।"

कातन्त्र के अन्य नाम

पतंजलि द्वारा प्रयुक्त 'कालापक' के अतिरिक्त 'कातन्त्र' के अन्य नामों में कलाप, कौमार तथा शार्वार्मिक नाम भी प्रसिद्ध रहे हैं। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा प्रदत्त महिलाओं एवं पुरुषों के लिए क्रमशः 64 एवं 74 (चतुःषष्टिः कलाः स्त्रीणां ताश्चतुःसप्ततिर्नृणाम्) प्रकार की कलाओं के विज्ञान का सूचक या संग्रह होने के कारण उसका नाम 'कालापक' और इसी का संक्षिप्त नाम 'कलाप' है। भाषाविज्ञान अथवा भाषातन्त्र का कलात्मक या रोचक-शैली में संक्षिप्त सुगम आख्यान होने के कारण उसका नाम 'कातन्त्र' भी पड़ा। किन्तु यह नाम परवर्ती प्रतीत होता है। जैनेतर विद्वानों की मान्यता के अनुसार 'काशकृत्स्नधातु-व्याख्यान' के एक सन्दर्भ के अनुसार यह ग्रन्थ 'कौमार-व्याकरण' के नाम से भी प्रसिद्ध था। किन्तु जैन मान्यता के अनुसार चूँकि ऋषभदेव ने अपनी कुमारी पुत्री ब्राह्मी के लिए 64 कलाओं, जिनमें से एक कला भाषाविज्ञान के साथ-साथ लिपि-सम्बन्धी भी थी,

उसका ज्ञानदान देने के कारण उसी पुत्री के नाम पर उक्त तन्त्र का संक्षिप्त नाम 'कौमार' तथा लिपि का नाम 'ब्राह्मी' रखा गया।

कुछ विद्वानों को इस विषय में शंका हो सकती है कि शर्ववर्म क्या दिगम्बर जैनाचार्य थे? गवेषकों ने उसकी भी खोज की है। उन्होंने सर्वप्रथम एक साक्ष्य के रूप में 'कातन्त्ररूपमाला' के लेखक भावसेन त्रैविद्य का उदाहरण प्रस्तुत किया है, जिसमें स्पष्ट कहा गया है कि— "श्रीमच्छर्ववर्मजैनाचार्यविरचितं कातन्त्रव्याकरणं।" अर्थात् कातन्त्र-व्याकरण के लेखक शर्ववर्म जैनाचार्य थे। उनके दिगम्बर-परम्परा के होने के समर्थ प्रमाण जैनेतर-स्रोतों से भी मिल जाते हैं।

पतंजलि ने अपने महाभाष्य में स्पष्ट लिखा है— कि यह कातन्त्र अथवा कलाप-तन्त्र, (कलाप अर्थात्) मयूरपिच्छी धारण करनेवाले के द्वारा लिखा गया है (कलापिना प्रोक्तमधीयते कालापस्तेषामाम्नायः कालापकम्) और यह सर्वविदित है कि चूँकि मयूर-पिच्छी संसार भर की साधु-संस्थाओं में से केवल दिगम्बर-पंथी जैनाचार्यों के लिए ही आगम ग्रन्थों में अनिवार्य मानी गयी है और वे ही उसे अपनी संयम-चर्या के प्रतीक के रूप में अनिवार्य रूप से अपने पास रखते हैं। इसका समर्थन एक अन्य जैनेतर-स्रोत भी करता है। विष्णुपुराण (3/8) में कहा गया है कि— "ततो दिगम्बरो मुण्डो बर्हिपिच्छिधरो द्विजः।" (यहाँ पर मुण्डो का अर्थ केशलुंचुक तथा द्विजः का अर्थ "दो जन्मवाला अर्थात् दीक्षा-पूर्व एवं दीक्षा के बाद वाला अर्थ" लिया गया है।) उसी 'बर्हि' अर्थात् 'मयूर-पंख' पिच्छीधारी दिगम्बराचार्य के द्वारा लिखित होने के कारण ही वह ग्रन्थ 'कलाप' या 'कालापक' (अथवा कातन्त्र) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अतः उक्त साक्ष्यों से यह निश्चित हो जाता है कि उक्त ग्रन्थ के लेखक शर्ववर्म दिगम्बर जैनाचार्य थे।

शर्ववर्म कहाँ के रहनेवाले थे, इसके विषय में अभी तक कोई जानकारी नहीं मिल सकती है। किन्तु 'वर्म' उपाधि से प्रतीत होता है कि वे दक्षिणात्य, विशेष रूप से कर्नाटक अथवा तमिलनाडु के निवासी रहे होंगे, क्योंकि वहाँ के निवासियों के नामों के साथ वर्म, वर्मा अथवा वर्मन् शब्द संयुक्त रूप से मिलता है। यथा— विष्णुदेववर्मन्, कीर्त्तिदेववर्मन्, मदनदेववर्मन् आदि। आचार्य समन्तभद्र का भी पूर्व नाम शान्तिवर्मा था। यह जाति अथवा गोत्र या विशेषण सम्भवतः उन्हें परम्परा से प्राप्त होता रहा।

इतिहास साक्षी है कि ये 'वर्मन्' या 'वर्म' नामधारी व्यक्ति इतने बुद्धिसम्पन्न एवं शक्ति-सम्पन्न थे कि दक्षिण-पूर्व एशिया तक इनका प्रभाव विस्तृत था। बोर्नियो के एक संस्कृतज्ञ प्रशासक का नाम 'मूलवर्म' या 'मूलवर्मन्' था, जिसका संस्कृत-शिलालेख इतिहास-प्रसिद्ध है। इंडोनेशिया में दसवीं सदी में 'कलाप' के नाम पर नगर या मन्दिर बनाने की परम्परा के उल्लेख मिलते हैं

कातन्त्र-व्याकरण की लोकप्रियता

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, कोई भी ग्रन्थ, पन्थ या सम्प्रदाय के नाम पर

कालजयी, सार्वजनीन या विश्वजनीन नहीं हो सकता। वस्तुतः वह तो अपने लोकोपकारी, सार्वजनीन निष्पक्ष वैशिष्ट्य-गुणों के कारण ही भौगोलिक सीमाओं की संकीर्णताओं की परिधि से हटकर केवल अपने ज्ञान-भाण्डार से ही सभी को आलोकित-प्रभावित कर जन-जन का कण्ठहार बन सकता है।

कातन्त्र-व्याकरण एक जैनाचार्य के द्वारा लिखित होने पर भी उसमें साम्प्रदायिक संकीर्णता का लेशमात्र भी न होने के कारण उसे सर्वत्र समादर मिला। ज्ञानपिपासु मेगास्थनीज, फाहियान, ह्यूनत्सांग, इत्सिंग और अलबेरूनी भारत आये। उन्होंने यहाँ प्रमुख ग्रन्थों के साथ-साथ लोकप्रचलित कातन्त्र का भी अध्ययन किया होगा और उनमें से जो भी ग्रन्थ उन्हें अच्छे लगे उन्हें सहस्रों की संख्या में वे बेहिचक अपने साथ अपने-अपने देशों में लेते गये और बहुत सम्भव है कि कातन्त्र की पाण्डुलिपियाँ भी साथ में लेते गये हो?

सन् 1984 में सर विलियम जोन्स आई०सी० एस० होकर भारत आये, और भारत के चीफ-जस्टिस के रूप में कलकत्ता में प्रतिष्ठित हुए। किन्तु संस्कृत-प्राकृत के अतुलनीय साहित्य-वैभव को देखकर आश्चर्यचकित हो गये और नौकरी छोड़कर संस्कृत-प्राकृतभाषा के अध्ययन में जुट गये। 'कातन्त्र-व्याकरण' पढ़कर वे भी प्रमुदित हो उठे। उन्होंने देखा कि इसमें पाणिनि जैसी दुरूहता नहीं है। संस्कृत-प्राकृत सीखने के लिए उन्होंने उसे एक उत्तम सरल साधन समझा। अतः उन्होंने उसका सर्वोपयोगी संस्करण तैयार कराकर स्वयं द्वारा संस्थापित 'रायल एशियाटिक सोसायटी (बंगाल) कलकत्ता' से सन् 1819 में 'कातन्त्र-व्याकरण' के नाम से उसका प्रकाशन किया और 'फोर्ट विलियमस कॉलेज, कलकत्ता' के पाठ्यक्रम में भी उसे निर्धारित कराया। उसके बाद तो अविभाजित बंगाल की समस्त शिक्षा-संस्थाओं में उसका पठन-पाठन प्रारम्भ हो गया।

पाठकों को यह यह जानकर भी आश्चर्य होगा कि सन् 1819 से 1912 के मध्य केवल अविभाजित बंगाल से 'कातन्त्र-व्याकरण' तथा तत्सम्बन्धी विविध व्याख्यामूलक सामग्री के साथ 27 से भी अधिक ग्रन्थों का संस्कृत, बंगला एवं हिन्दी में प्रकाशन हो चुका था।

यह भी आश्चर्यजनक है, कि रायपुर (मध्यप्रदेश) के अकेले एक विद्वान् पं० हलधर शास्त्री के व्यक्तिगत संग्रह में सन् 1920 के लगभग कातन्त्र-व्याकरण तथा उस लिखित विविध टीकाओं, वृत्तियों एवं व्याख्याओं की लगभग 18 पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित थीं, जिनका वहाँ अध्ययन कराया जाता था। अतः पतंजलिकालीन यह उक्ति कि— "ग्राम-ग्राम नगर-नगर में 'कालापक' की शिक्षा, बिना किसी सम्प्रदाय-भेद के सभी को प्रदान की जाती थी, यथार्थ थी।

विशेष अध्ययन से विदित होता है कि विश्व-साहित्य में कातन्त्र-व्याकरण ही संभवतः ऐसा ग्रन्थ है, जिस पर पिछले लगभग 200 वर्षों में देश-विदेश की विविध भाषाओं में

अनुवाद तथा विविध टीकाओं, वृत्तियों, व्याख्याओं, पंजिकाओं आदि को लेकर कुल मिलाकर 161 से भी अधिक ग्रन्थ लिखे गये और सम्भवतः सहस्रों की संख्या में उनकी पाण्डुलिपियाँ तैयार की गईं। उनकी प्रतिलिपियाँ केवल देवनागरी-लिपि में ही नहीं, बल्कि बंग, उड़िया, शारदा में भी उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त भी तिब्बत, नेपाल, भूटान, गन्धार (अफगानिस्तान), सिंहल एवं बर्मा के पाठ्यक्रमों में वह प्राचीनकाल से ही अनिवार्य रूप में स्वीकृत रहा है। अतः वहाँ की स्थानीय सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए समय-समय पर तिब्बती-भाषा में इसकी लगभग 12 तथा भोट-भाषा में 23 टीकायें लिखी गईं, जो वर्तमान में भी वहाँ की लिपियों में उपलब्ध हैं। मध्यकालीन मंगोलियाई, बर्मीज, सिंघली एवं पश्तों में भी उसकी टीकायें आदि सम्भावित हैं। पूर्वोक्त उपलब्ध पाण्डुलिपियों तथा उनका संक्षिप्त विवरण स्थानाभाव के कारण यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

अपने पाठकों की जानकारी के लिए यह भी बताना चाहता हूँ कि भारतीय प्राच्यविद्या के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० रघुवीर ने 1950 से 1960 के दशक में तिब्बत, चीन, मंगोलिया, साइबेरिया, इंडोनेशिया, लाओस, कम्बोडिया, थाईलैंड, बर्मा आदि देशों की सारस्वत-यात्रा की थी तथा वहाँ उन्होंने सहस्रों की संख्या में प्राच्य भारतीय पाण्डुलिपियाँ देखी थीं। वे सभी भोजपत्रों, ताड़पत्रों, स्वर्णपत्रों एवं कर्गलपत्रों पर अंकित थीं। उनमें से उनके अनुसार लगभग 30 सहस्र पाण्डुलिपियाँ अकेले तिब्बत में ही सुरक्षित थीं। यह सर्वविदित ही है कि आचार्य जिनसेन के शिष्य तथा राष्ट्रकूटवंशी नरेश अमोघवर्ष की 'प्रश्नोत्तररत्नमालिका' की पाण्डुलिपि तिब्बत से ही तिब्बती अनुवाद के साथ तिब्बती लिपि में प्राप्त हुई थी। अपनी यात्राओं के क्रम में वे उक्त सभी देशों से लगभग 60 हजार पाण्डुलिपियाँ अपने साथ भारत ले आये थे तथा जो नहीं ला सकते थे, उनकी माइक्रोफिल्मिंग कराकर ले आये थे। जापान की भारतीय पाण्डुलिपियों की लिपि 'सिद्धम्' के नाम से प्रसिद्ध है, जो देवनागरी के समकक्ष होती है। डॉ० रघुवीर के अनुसार लगभग 6000 भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद मंगोल-भाषा में किया गया था।

बहुत सम्भव है कि उनमें भी 'कातन्त्र व्याकरण'-सम्बन्धी विविध ग्रन्थ रहे हों? जैसाकि पूर्व में कह आया हूँ कि जो विदेशी पर्यटक भारत आये, वे अपने साथ सहस्रों की संख्या में संस्कृत-प्राकृत की पाण्डुलिपियाँ लेते गये। उनमें से अनेक तो नष्ट हो गई होंगी, बाकी जो भी बचीं, वे विश्व के कोने-कोने में सुरक्षित हैं। हम जिन ग्रन्थों को लुप्त या नष्ट घोषित कर चुके हैं, बहुत संभव है कि वे विदेशों में अभी भी सुरक्षित हों। उक्त पाण्डुलिपियों में कातन्त्र-व्याकरण के भी विविध अनुवाद, टीकायें एवं वृत्तियाँ आदि सम्भावित हैं, जिन्हें खोज करने की तत्काल आवश्यकता है।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में जब आधुनिक जैन पण्डित-परम्परा की प्रथम सीढ़ी का उदय हुआ, तब उसमें कातन्त्र-व्याकरण को पढ़ाए जाने की परम्परा थी। जैन-पाठशालाओं

में उसका अध्ययन अनिवार्यरूप से कराया जाता था। जैन एवं जैनेतर परीक्षालयों ने भी उसे अपने पाठ्यक्रमों में निर्धारित किया था। किन्तु पता नहीं क्यों, सन् 1945-46 के बाद से उसके स्थान पर 'लघु सिद्धान्त' एवं 'मध्य सिद्धान्त कौमुदी' तथा भट्टोजी दीक्षित-कृत 'सिद्धान्त-कौमुदी' का अध्ययन कराया जाने लगा। और आज तो स्थिति यह आ गई है कि समाज या तो 'कातन्त्र-व्याकरण' का नाम ही नहीं जानती अथवा जानती भी है, तो उसे जैनाचार्य लिखित एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के गौरव-ग्रन्थ के रूप में नहीं जानती। यह स्थिति दुःख ही नहीं, भयावह भी है। आवश्यकता इस बात की है कि जैन पाठशालाओं में तो उसका अध्ययन कराया ही जाय, साधु-संघों से भी सादर विनम्र निवेदन है कि वे अपने संघस्थ साधुओं, आर्यिकाओं, साध्वियों एवं व्रतियों को भी उसका गहन एवं तुलनात्मक अध्ययन करावें, समाज को भी उसका महत्त्व बतलावें और विश्वविद्यालयों में कार्यरत जैन-प्रोफेसरों को भी यह प्रयत्न करना चाहिये कि वहाँ के पाठ्यक्रमों में कातन्त्र-व्याकरण को भी स्वीकार किया जाय, जिससे कि हमारा उक्त महनीय ग्रन्थ हमारी ही शिथिलता से विस्मृति के गर्भ में न चला जाये।

परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी इस दिशा में अत्यधिक व्यग्र हैं। वे स्वयं ही दीर्घकाल से कातन्त्र-व्याकरण का बहुआयामी अध्ययन एवं चिन्तनपूर्ण शोधकार्य करने में अतिव्यस्त रहे हैं। जब उन्हें यह पता चला कि केन्द्रीय प्राच्य तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी के वरिष्ठ उपाचार्य डॉ० जानकीप्रसाद जी द्विवेदी तथा केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ लखनऊ के डॉ० रामसागर मिश्र ने कातन्त्र-व्याकरण पर दीर्घकाल तक कठोर-साधना कर तद्विशयक गम्भीर शोध-कार्य किया है, तो वे अत्यधिक प्रमुदित हुए। उन्हें कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली में आमन्त्रित किया गया, उनसे चर्चा की गई तथा उन्हें आगे भी शोध-कार्य करते रहने की प्रेरणा दी गई है। जैन विद्याजगत् को यह जानकारी भी होगी कि पिछले मार्च 1999 को डॉ० जानकीप्रसाद द्विवेदी के लिये उनके कातन्त्र-व्याकरण-सम्बन्धी मौलिक शोध-कार्य का मूल्यांकन कर कुन्दकुन्द भारती की प्रवर-समिति ने उन्हें सर्वसम्मति से पुरस्कृत करने की अनुशंसा की थी। अतः कुन्दकुन्द भारती के तत्वावधान में पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी के सान्निध्य में दिल्ली-जनपद के विद्वानों एवं विशिष्ट नागरिकों के मध्य एक लाख रूपयों के 'आचार्य उमास्वामी पुरस्कार' से उन्हें सम्मानित भी किया गया था।

जैन-समाज से मेरा विनम्र निवेदन है कि वह अपने अतीतकालीन गौरव-ग्रन्थों का स्मरण करे, स्वाध्याय करे उनके महत्त्व को समझे तथा उसके शोधार्थियों को प्रोत्साहित करने के लिये उन्हें पुरस्कृत/सम्मानित भी करती रहे, जिससे कि अगली पीढ़ी को भी उससे प्रेरणायें मिलती रहें और हमारे गौरव-ग्रन्थों की सुरक्षा भी होती रहे। ❖❖

कातन्त्र-व्याकरण और उसकी उपादेयता

—डॉ० उदयचन्द्र जैन

भाषा का नियामक तत्त्व व्याकरण है। व्याकरण की नियामकता के बिना भाषा प्रवाह गतिमान नहीं हो पाता है और न ही उसके बिना लोक-व्यवहार भी नहीं चल सकता है। मनुष्य के वागव्यवहार का स्रोत भाषा है, उसका वचन-व्यवहार है। जिससे सौम्यता प्रतिपादित होती है और विनम्रता भी दिखाई पड़ती है। मनुष्य जब भी बोलेगा, उसमें समान आदर होगा। यदि वक्ता पुरुष है तो “मैं जाता हूँ” ऐसा कथन अपने आप हो जाएगा। यदि बोलनेवाली स्त्री है, तो “मैं जाती हूँ” ऐसा प्रयोग स्वतः ही करेगी, क्योंकि उसका वचन-व्यवहार लोक-व्यवहार से भी जुड़ा हुआ प्रतीत होगा। यही भाषा का प्रवेश जब साहित्य के क्षेत्र में होता है, तब उसमें लोकव्यवहार की अपेक्षा भाषा के नियमन पर विशेष ध्यान दिया जाता है तथा शब्द-सिद्धि के लिए सूत्र-निर्माण कर लिया जाता है, क्योंकि उससे संस्कारित होकर जो भी प्रयोग होगा, वह अपने नियम में बंधी हुई सदैव एकरूपता को धारण करती रहेगी।

व्याकरण भाषा का नियमन है। इसलिये भाषाविदों ने उन पर जो नियम बनाये या सूत्र दिये, वे ही व्याकरण का रूप लेकर भाषा को एक रूप में जोड़ने में समर्थ हुए। जैन या जैनेतर कोई भी भाषाविद को ही क्यों न लें, वह एकरूपता से जुड़ा हुआ ही अपनी भाषा-सम्बन्धी व्यवस्था देता है। उस व्यवस्था में भी जो भी सूत्र बनाये जाते हैं वे रोचक ही नहीं, अपितु लघुबद्धता एवं छन्दोबद्धता को भी लिए हुए रहता है। “सिद्धो वर्णसामान्यायः” यह ‘कातन्त्र व्याकरण’ का प्रथम सूत्र है, इसमें ‘अनुष्टुप् छन्द’ है।” अः इति विसर्जनीयः” (18) में भी यही है। प्रायः सभी के चिन्तन में कुछ न कुछ अवश्य ध्वनित होगा।

व्याकरण परम्परा

संस्कृत, प्राकृत या अन्य कोई भी भाषा-परम्परा क्यों न हो, उसका अपना इतिहास है, उसका कोई न कोई विकास का स्रोत है और उसकी प्रामाणिकता भी है। यदि संस्कृत वाङ्मय को ही लें, तो स्वतः ही कह उठेगा कि यह वैदिक परम्परा से जुड़ा हुआ है। जैन- साहित्य की ओर दृष्टि डालते हैं, तो इसके ग्रन्थों में भी व्याकरण के नियम प्राप्त हो जायेंगे। दिगम्बर-परम्परा के ‘छक्खंडागमसुत’ और उसकी ‘धवला’ टीका में कई सूत्र व्याकरण की विशेषताओं को व्यक्त करते हैं। “अकारहस अ आ इ ई उ ऊ एदे छच्च समाण ति सुत्तेण

आदिबुद्धीस कय-अकारतादो।" ए और ओ सन्ध्यक्षर स्वर हैं। —(षट्खंडागम, धवला टीका 3/8/90)। 'धवला' पुस्तक के खंड चार, पुस्तक नौ में 'लिंग-संख्या-काल-कारक-पुरुषोपग्रह व्यभिचार निवृत्तिपरः' का कथन इसी बात का पोषक प्रमाण है।

श्वेताम्बर-आगम में "भासा भासेज्ज" के आधार पर "एगवयणं बहुवयणं इत्थीवयणं णउंसगवयणं पच्चक्खवयणं परोक्खवयणं" —(आचार चूला० 4/1/3) में यही विश्लेषित किया है कि भाषा का जो भी कथन हो वह लिंगानुसार होना चाहिये 'सूत्रकृतांग' में आठ कारक वचन, काल आदि का संकेत व्याकरण की प्राचीन परम्परा को सिद्ध करते हैं।

जैन परम्परा में व्याकरण रचना

जैनाचार्यों ने सूत्रबद्धता पर विशेष बल दिया, अतः यह तो निश्चित है कि जैन-क्षेत्र में भाषा-नियमन पर विशेष बल दिया जाता था। आगम सूत्र इसके प्रमाण हैं। भाषा का साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश होने पर समय-समय पर विज्ञानों ने व्याकरणसूत्रों की रचना की। जैसे सदपाहुड, ऐन्द्र व्याकरण, चण्डकृत प्राकृत लक्षण, जैनेन्द्र व्याकरण, शाकटायन-व्याकरण, सिद्धहेमशब्दानुशासन आदि संस्कृत एवं प्राकृत में कई व्याकरण लिखे गये।

'कातन्त्र व्याकरण' की उपादेयता

विभिन्न व्याकरण-ग्रन्थों की परम्परा में कातन्त्र-व्याकरण का नाम सर्वोपरि सर्वमान्य एवं देश-विदेश आदि में प्रचलित व्याकरण रहा है। इसे पाणिनीय से पूर्व भी माना गया है। यह जैन और जैनेतर दोनों ही परम्पराओं में मान्य व्याकरण रहा है। यह अध्ययन किया जाता था और अध्यापन के लिए भी निर्धारित किया जाता है। समय-समय पर शासकों ने भी इस पर विशेष बल दिया।

कहा जाता है कि यह आन्ध्रप्रदेश के राजा सातवाहन को अल्पाविधि में सरलतम ज्ञान कराने के लिए 'कातन्त्र' को ही आधार बनाया गया था; क्योंकि यह अत्यन्त सरल, आर्ष व्याकरण है।

कातन्त्र व्याकरण के सूत्रकार

इसके सूत्रकर्ता आचार्य शर्ववर्म हैं। इसके कर्ता ने अपनी सूक्ष्मदृष्टि से व्याकरण के सिद्धान्तों का नियमन इस तरह किया कि पढ़नेवाला सहज ही कठस्थ करने में समर्थ हो जाता है।

कातन्त्र का प्रथम सूत्र 'सिद्धो वर्ण समाम्नायः' है। इसके कई अर्थ हो सकते हैं। भाषा की दृष्टि से वर्णों की सम्यक् रूपरेखा भी अर्थ है। 'सम्यगाम्नायन्ते अभ्यस्यन्ते इति समाम्नायाः' यह व्युत्पत्ति इसी बात का बोध कराती है कि जो वर्णों अर्थात् स्वर-व्यंजनों का सम्यक् अभ्यास कराये, वही इसकी प्रसिद्धि है, व्यापकता है और सार्थकता भी है।

'सिद्ध' का द्वितीय अर्थ प्रसिद्ध, निष्पन्न भी है 'निष्पन्नार्थो का प्रसिद्धार्थो वा।' और तृतीय अर्थ जैन 'सिद्ध' शब्द से यह अर्थ बोध कराता है कि जो 'सिद्ध कर्ममुक्त हैं, वे सिद्ध

हैं। 'सिद्ध' मंगलरूप भी हैं, अतः यह सिद्धप्रभु का स्मरण भी कराता है। यही दृष्टिकोण रखकर सूत्रों पर विशेष अध्ययन करने की आवश्यकता भी है।

कातन्त्र-व्याकरण का व्यापक परिप्रेक्ष्य:— जहाँ यह व्याकरण जैनदृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, वहीं इसकी यह भी व्यापकता है कि यह पूरे भारत एवं अन्य प्रदेशों तथा विदेशों में भी पढ़ाया जाता है। भारतीय पठन-पाठन की परम्परा के तीन प्रचलित रूप व्याकरणविदों के इसप्रकार दिये हैं— (1) बंगीय परम्परा, (2) कश्मीरी परम्परा और (3) मध्यदेशी परम्परा।

आज भी जैन-परम्परा का महत्त्व है। इसे अध्ययन-अध्यापन के रूप में जैन-श्रमणों को पढ़ाया जाता है। पर जिस व्यापकरूप में इसकी परम्परा है, उस परम्परा को जीवित रखने के लिए जैन-जगत् को आगे आना होगा, जो भी संस्कृत-शिक्षण के क्षेत्र में या संस्कृत-शिक्षण से संबंधित मनीषी लोग हैं, उन्हें उसके अतीत को अक्षुण्ण बनाये रखना होगा। जहाँ तक मैं जानता हूँ, आज भारत देश के सम्पूर्ण साधु-समाज में यदि इसका प्रवेश प्रारम्भ हो जाए, तो उन साधु-संघ के ब्रह्मचारियों एवं ब्रह्मचारिणी बहिनों में इसके पढ़ने के प्रति रुचि जागृत होगी, क्योंकि आज ये ही कातन्त्र को सुरक्षित रख सकते हैं। समाज में चलने वाले विद्यालय, महाविद्यालय आदि तो पराधीन हो गए हैं, उनकी स्थिति विकट है। अतः समाज में यह जागृत किया जाये या इसे पढ़ने के लिए प्रेरित किया जाये कि जो भी इसे कंठस्थ पारायण करेगा या जो भी करायेगा, उसको प्रत्येक सूत्र के यदि 100/- ₹ भी देकर सम्मान किया जाये, तो कम होगा। आपके लाखों रुपयों से अरबों की सम्पत्ति अमूल्य-निधि समाप्ति से बच जाएगी। यह एक ऐसा दिव्य जिनालय है, जिसमें (1373) एक हजार तीन सौ तिहत्तर प्रतिमायें हैं, जो हीरे से बहुमूल्य धातुओं की हैं। धातु या पत्थर की प्रतिमायें तो कोई भी ले जा सकता है, चुरा सकता है या छीन सकता है। छीनने या चुराने की स्थिति पर ऐसे लोग भी मिल जायेंगे, जो इतनी ही संख्या में बनवाकर स्थापित करा सकते हैं; पर उनकी भव्यता नहीं रह सकती है। यही 'कातन्त्र व्याकरण' रूपी मन्दिर में नहीं हो सकता है। इसे जितना पढ़ने वालों या पढ़ाने वालों का योग मिलेगा, वे कितने ही मूर्तरूप में सूत्ररूपी मूर्तियाँ स्थापित कर सकेंगे। मैंने सर्वप्रथम इसे देखा परायण किया और इसके प्रचार के लिए संकल्प किया। आज नाना संघ हैं, बाल ब्रह्मचारी हैं, युवा संत भी हैं। इनके जीवन का सार यह परम तन्त्र कातन्त्र में लगे, तो निश्चित ही समाज की अनुपम निधि बच सकेगी। इसे बचाना है, प्रयास कीजिये, सफलता मिलेगी।

कातन्त्र-व्याकरण के नाम

इस व्याकरण के विविध नाम हैं, जिनमें कालाप, कौमारादि प्रसिद्ध हैं।

कातन्त्र व्याकरण और उसकी टीकार्यें

कातन्त्र समग्र संस्कृत-प्रेमियों में प्रचलित एक सरल व्याकरण मानी गई है। इसका अध्ययन-अध्यापन वर्षों से ही नहीं, अपितु सहस्राब्दियों से चला आ रहा है। यह भारतवर्ष

के अतिरिक्त बर्मा, थाईलैंड, जापान, श्रीलंका आदि उन प्रदेशों में भी प्रचलित रही, जहाँ बौद्धधर्म ने अपना विकास किया। यह व्याकरण प्रत्येक क्षेत्र में अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना गया। इसलिये इस पर विविध टीकायें लिखी गई हैं।

कातन्त्रदीपिका :— मुनीश्वरसूरि के शिष्य हर्ष मुनि द्वारा की गई टीका कातन्त्रदीपिका है।

कातन्त्र-रूपमाला :— बालकों के बोध हेतु मुनीश्वर भावसेन ने इस पर स्पष्टीकरण टीका प्रस्तुत की, जो सुकुमार एवं सरल रूप सिद्धि आदि से युक्त है।

कातन्त्र विस्तार :— यह कातन्त्र पर लिखी गई वृहद टीका है, जो वि०सं० 1448 के आसपास मुनि वर्धमान के द्वारा प्रस्तुत की गई।

कातन्त्रपंजिकोद्योत :— मुनि वर्धमान के शिष्य त्रिविक्रम ने इस पर टीका लिखी।

कातन्त्रोत्तर :— विजयानन्दकृत यह टीका समाधान से परिपूर्ण अप्रकाशित अहमदाबाद में है।

कातन्त्रभूषणम् :— आचार्य धर्मघोष ने इस पर भावपूर्ण एवं सरल टीका लिखी है।

कातन्त्रविध्वम टीका :— आचार्य जिनसिंहसूरि के शिष्य आचार्य जिनप्रभ सूरि ने कातन्त्र पर टीका प्रस्तुत की है।

इत्यादि कई टीकायें कातन्त्र पर लिखी गई हैं। इसके टीकाकार जैनाचार्य हैं। आज इस युग के मुनीश्वरों को चाहिये कि पुनः इसकी वास्तविकता को समझकर साधु-साध्वियों को इस ओर प्रेरित करें। जिस धरोहर को दो हजार वर्ष से पूर्व से भी सुरक्षित करते आ रहे हैं, आज उसका न्यास समाप्त करके साहित्य के क्षेत्र में अपूर्ण क्षति कर जायेंगे। आने वाला समय एवं वैज्ञानिक युग के कम्प्यूटरी युग में सरलीकरण की प्रवृत्ति को कौन नहीं अपनाना चाहेगा?

आचार्यप्रवर विद्यानन्द जी जैसे संत इस भारतवर्ष में हैं। उनका समाज में स्थान है, नाम है और प्रभाव भी है। अतः जब वे ऐसा करने के लिए उदारमनाओं को बोध देकर इनके जानकार लोगों का सम्मान करा रहे हैं, तो क्या हमारा यह कर्त्तव्य नहीं हो जाता है कि हम अपनी अनुपम निधि को पढ़कर व्याकरण की गौरवमयी परम्परा को जीवित रखने में योगदान दें? ❖❖

व्याकरण और अपरिग्रहवाद

कातन्त्र व्याकरण में 'विरामे वा' सूत्र के द्वारा पदान्त में भी मकार को विकल्प से अनुस्वार बनाने का जो नियम दिया गया है, वह निर्ग्रन्थ श्रमणों की अपरिग्रहवादी दृष्टि का पोषक है, क्योंकि अनुस्वार में स्याही, समय, जगह एवं श्रम सभी की बचत होती है, जबकि मकार के लिखने में ये सब अधिक लगते हैं। अतः अनुस्वार अपरिग्रहवाद का प्रतीक है। ❖❖

‘हंसदीप’ : जैन-रहस्यवाद की एक उत्प्रेरक कविता

—प्रो० (डॉ०) विद्यावती जैन

“सोऽहमित्युपात्त-संस्कारस्तस्मिन् भावनाया पुनः ।
तत्रैव दृढ-संस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम् ।।”

—(आ० पूज्यपाद, ‘समाधितन्त्र’, 28)

अर्थ:—आत्मा की भावना करनेवाला जीव आत्मतत्त्व में स्थित हो जाता है। ‘सोऽहं’ के जप का यही मर्म है। ‘सोऽहं’ की भावना साधक-अवस्था की एक उत्कृष्ट भावना है। सभी अध्यात्मवेत्ता आचार्यों ने इसके बारे में अनेकत्र भावप्रवण वर्णन किया है। ‘दासोऽहं’, ‘सोऽहं’ एवं ‘अहं’ के तीन सूत्रों में ‘दासोऽहं’ भक्तिमार्ग के वचन हैं, ‘सोऽहं’ अध्यात्मसाधक की भावना है तथा ‘अहं’ आत्मानुभूति की अवस्था का परिचायक है। भावनाप्रधान ‘सोऽहं’ के बारे में एक ऊर्जस्वित कविता पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी के द्वारा रचित ‘हंसदीप’ शीर्षक कविता एक गूढ़ आध्यात्मिक रचना है। इसके बारे में अर्थसहित मूलपाठ की प्रस्तुति एक विदुषी लेखिका के द्वारा यहाँ की गयी है।

—सम्पादक

‘हंस-दीप’ कविता आचार्यश्री विद्यानन्द जी की एक रहस्यवादी कविता है। रहस्य-भावना वस्तुतः एक ऐसा आध्यात्मिक साधन है, जिसके माध्यम से तपःभूत साधक स्वानुभूतिपूर्वक आत्मतत्त्व से साक्षात्कार करता है। साधक अपनी भावना के सहारे आध्यात्मिक सत्ता की रहस्यमय गहन अनुभूतियों को वाणी के द्वारा शब्द-चित्रों में रेखांकित कर देता है, तभी रहस्यवाद की सृष्टि होती है। जीवात्मा एक रहस्यमय एवं अनन्त गुणों का भण्डार है। इसकी प्राप्ति भेदानुभूति के द्वारा ही संभव है।

आचार्यश्री विद्यानन्द जी ने स्वानुभूत अनुभूति का गहराई के साथ चतुर चितेरे की भाँति कल्पनाओं का पुट देते हुए आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान का निरूपण किया है। उसमें शुद्ध आत्म-भावों के अनन्त वैभव के साथ ज्ञान की अखण्ड-व्यापकता भी विद्यमान है। जब भेदानुभूति द्वारा शरीर और आत्मा की पृथक्ता स्पष्ट हो जाती है, तो आत्मा शुद्ध परमतत्त्व में लीन हो जाती है और उसकी स्थिति भोर होने के पूर्व के आकाश के समान सिन्दूरी आभावाली हो जाती है।

आचार्यश्री की काव्य-प्रतिभा ने प्रस्तुत रहस्यवादी कविता के हार्द के स्पष्टीकरण के लिए विविध प्रतीकों का आश्रय लिया है। जैसे—आत्मा के लिए ‘हंस’, शुद्ध ज्ञान के लिये

‘दीपक’, अज्ञान के लिये ‘तिमिर’ या अन्धकार, शरीर के लिये ‘तैल’ और सांसारिक विषय-वासनाओं की सारहीनता के लिए ‘तूल’ शब्द का प्रयोग किया है। इसीप्रकार आत्मानन्द की अभिव्यंजना के लिए उन्होंने ‘अमृत’ शब्द का चुनाव किया है। अज्ञान, मिथ्यात्व और राग-द्वेष-मोह के नष्ट हो जाने पर निष्कलंक ज्ञान-कलिका खिल उठती है और आत्मा में ‘सोऽहं-सोऽहं’, की ध्वनि प्रस्फुटित होने लगती है। इन प्रसंगों में अमृत, दीप और प्रकाश के द्वारा आत्मज्ञान और आत्मानन्द की अभिव्यंजना की गई है।

प्रस्तुत रचना की शैली प्रौढ़, भाषा आलंकारिक, प्रांजल एवं शान्तरस से ओतप्रोत है। मूल कविता एवं उसका अर्थ निम्नप्रकार है—

हंस-दीप

आचार्यश्री विद्यानन्द जी कृत

(रचनाकाल सन् 1965 के आसपास)

मिट्टी के नौमहले बैठा हंस ज्योति फैलाये,
“हं सोऽहं, सोऽहं, सोऽहं” का अमृत नाद सुनाये।
तिमिर कहों, मैं भी तो देखूं, दीपक जलता जाये,
प्रकाश का प्रहरी घर-आंगन घूमे, अलख जगाये ॥ 1 ॥
तिल-तिल जलता तैल, तूल पर मोर मचलते आते,
कर्मबंध के अनादि कश्मल अपना रूप दिखाते,
दे अंचल को ओट अंचल कौन करे भंगुर को,
कौन रोक लेगा शराव से उड़ते हंसावर को।
तैल-तूल का ठाठ अकिंचन सपनों में भरमाये,
हं सोऽहं..... ॥ 2 ॥
यह विभावरी, इन्दु-विभा पर लगा आवरण तम का,
आज कसौटी पर है विक्रम कनक-दीप लघुतम का।
तत्पर होकर प्राण अड़े हैं दुर्जय समर-स्थल में,
नहा उठे हैं वीर केसरी आभा की हिंगुल में।
सारी रात रतजगा कोई आज न हमें बुझाये,
हं सोऽहं..... ॥ 3 ॥
अंजन-कूट टूटते जाते एक-एक चितवन पर,
गौरी के दुर्ललित लास्य साकार हुए कंपन पर।
आज चुनौती अंध दनुज की शल्य-शलाकाओं को,
आमंत्रण भेजा लघु-लघु दोषों ने राकाओं को।
तिमिर-कृष्ण के संग सलोनी राधा रास रचाये,
हं सोऽहं..... ॥ 4 ॥

अर्थ:—मिट्टी अर्थात् शरीर के नौ लहरोंवाले राजमहल में बैठकर नीर-क्षीर विवेकवाला यह राजहंस अर्थात् शुद्ध, बुद्ध, प्रबुद्ध एवं चैतन्य-स्वरूप आत्मा अपने ज्योतिर्मय ज्ञान-पुंज से चारों दिशाओं को आलोकित कर रहा है और "मैं वही हूँ, मैं वही हूँ, मैं वही हूँ" अर्थात् 'मैं ही शुद्धात्मा हूँ' —इस सत्य का अमृतनाद सुना रहा है। "कहाँ है अज्ञानरूपी वह अन्धकार, मैं भी तो उसे देखूँ?" —यह कहता हुआ ज्ञानरूपी प्रकाश का सजग प्रहरी प्रज्वलित वह दीपक घर-घर में, आंगन-आंगन में घूम-घूम कर देह एवं आत्मा की भिन्नतारूपी निश्चयात्मक ज्ञान (भेदविज्ञान) का अलख जगा रहा है।

(2) जिसप्रकार प्रज्वलित दीपक अपने प्रकाश से पर-पदार्थों को तो आलोकित करता है, किन्तु उसका स्वयं का तेल तिल-तिल करके जलता रहता है; उसीप्रकार सांसारिक विषय-भोगों की सारहीनता को समझे बिना ही यह मोर अर्थात् कर्मलिप्त जीव भ्रमवश अपने को सुखी मानकर उसी में प्रमुदित रहा करता है और इसीलिये अष्टकर्म अनादिकाल से ही उसके चित्र-विचित्र मलिनरूपों (अर्थात् 84 लाख योनियों में नानारूपों) का प्रदर्शन कराते रहते हैं।

किन्तु क्षणभंगुर इस शरीर को क्या कोई सुरक्षा दे सकता है? इस नश्वर तन को क्या कोई शाश्वत बना सकता है? मिट्टी के सकोरे अर्थात् शरीर से उड़ते हुए श्रेष्ठ राजहंस अर्थात् शुद्धात्म को क्या कोई आज तक रोक भी सका है? जब तक उसमें आत्मा का निवास है, तभी तक उस शरीर की स्थिति है। हंस अर्थात् आत्मा के उड़ जाने के बाद तो वह मात्र पुद्गल है, जड़ है और वह मिट्टी के फूटे हुए सकोरे के समान निरर्थक है।

यद्यपि तेल एवं तूल का ठाठ-बाट नश्वर, सारहीन एवं निरर्थक है; फिर भी यह अज्ञानीजीव भ्रमवश उसमें लिप्त रहकर सुखानुभव करता रहता है।

(3) चन्द्रमा की आभा अर्थात् आत्मा पर रात्रि और अन्धकार अर्थात् मिथ्यात्व एवं अज्ञान का आवरण चढ़ा हुआ है; किन्तु अब स्वर्णद्वीप के समान उस आत्मा ने अपने ज्ञानावरणी-कर्म को नष्ट करने के लिये अपने तपरूपी पराक्रम को ज्ञानरूपी विवेक की कसौटी पर कस दिया है और अब वह पूरी तरह से इस संसाररूपी दुर्जय रणभूमि में अपने कर्मरूपी (ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय) शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिये कटिबद्ध है।

कर्मों पर विजय प्राप्त करने में सक्षम आत्मा अपने उपक्रम से वीर-केशरी की भाँति कर्म-निर्जरा से उत्पन्न सौन्दर्यरूपी सिन्दूरी-रंग में स्नात हो गई है। विजय के उस उल्लास के कारण अब आत्म-जागरण के लिये दिन और रात में कोई अन्तर नहीं रहा। निष्कलंक आत्मा के इस रतजगे अर्थात् अहर्निश आध्यात्मिक जागरण की प्रोन्नत दशा में अब राग-द्वेष, काम-क्रोधादि कोई भी किसी भी प्रकार का व्यवधान नहीं डाल सकता है।

(4) चार घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने पर यह शुद्ध आत्मा साधना की एक-एक

सीढ़ी पर जैसे-जैसे अग्रसर होती जाती है, वैसे-वैसे ही अघातिया-कर्म रूपी सुदृढ़ अंजनकूट (शिखर) भी क्रमशः तड़ातड़ टूटते जाते हैं।

जिसप्रकार अत्यधिक लाड़-दुलार में पली हुई भामिनी के नृत्य के हाथ-भाव ताल की एक-एक कम्पन पर साकार हो उठते हैं, उसीप्रकार साधक की आत्म-साधना से उसकी कर्म-जंजीरें एक-एक कर टूटती जाती हैं। अपनी तपस्या और गहन-साधना से आत्मा ने अज्ञान-अन्धकाररूपी दानव की शल्यरूपी शलाकाओं को मानों चुनौती ही दे डाली है और ललकार कर कहा है कि “अब मैं अपने प्रकाश (ज्ञान) के समक्ष तुझे पराजित करके ही रहूँगी।” तिमिररूपी अज्ञान तथा कृष्ण अर्थात् कलुषित शरीर के साथ लावण्यमयी राधा अर्थात् यह चैतन्यात्मा अभी तक भ्रमवश रास कैसे रचाती चली आ रही है? अर्थात् पौद्गलिक जड़ शरीर में कर्मलिप्त आत्मा कैसे आनन्द मनाती चली आ रही है? —यही आश्चर्य का विषय है। ❖❖

‘सोऽहं’ के जप का मर्म

“सोहमित्यात्तसंस्कारतस्मिन् भावनया पुनः ।

तत्रैव दृढ संस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिं ।।”

—(आचार्य पूज्यपाद, समाधितन्त्र 28)

अर्थ:— आत्मा की भावना करनेवाला आत्मा में स्थित हो जाता है। ‘सोऽहं’ के जप का यही मर्म है। ❖❖

महाकवि भास और ‘श्रमण’

महाकवि भास की दृष्टि में ‘श्रमण’ अवैदिक भी थे और नग्न दिगम्बर भी। इसका उन्होंने अपने ‘अविमारक’ नामक नाटक में स्पष्ट प्रमाण दिया है—

विदूषक— “भेदि ! अहंको, समणओ?” (सम्मन्या ! मैं कौन हूँ? श्रमण हूँ क्या?)

चेटी— “तुमं किल अवेदिगो ।” (तुम तो अवैदिक हो, अर्थात् श्रमण हो)

इससे स्पष्ट है कि भास के समय (ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी) में भारतवर्ष में श्रमणों को ‘अवैदिक’ कहा जाता था।

इसी नाटक में आगे वे श्रमण को नग्न दिगम्बर भी प्रमाणित करते हैं—“आम भोदि ! जण्णोपवीदिणं ब्रह्मणो, चीवरेण रत्तपडो । यदि वत्थं अवणेमि, समणओ होमि ।” (ठीक है सम्मन्या ! यज्ञोपवीत से ब्राह्मण और चीवर से रक्तपट अर्थात् बौद्धभिक्षु जाने जाते हैं। यदि मैं वस्त्र त्याग कर दूँगा, तो मैं श्रमण हो जाऊँगा।)

उक्त वाक्य से उगे हुए सूर्य की भाँति स्वतः प्रमाणित है कि महाकवि भास के काल में श्रमण नग्न दिगम्बर ही होते थे और वस्त्रावेष्टित श्वेताम्बरों का अभ्युदय उस समय नहीं हुआ था। इस तथ्य को डॉ० ए०सी० पुसालकर प्रभृति विद्वानों ने भी सत्यापित किया है। ❖❖

आगम-मर्यादा एवं निर्ग्रन्थ श्रमण

—श्रीमती रंजना जैन

आगम-ग्रन्थों में 'आगमचक्खू साहू' कहकर निर्ग्रन्थ श्रमणों को आगम (शास्त्र) रूपी चक्षुओं से देखकर श्रामण्यपथ पर अग्रसर होने का निर्देश दिया गया है। किन्तु आज के कतिपय श्रमण तो अपने वचनों व निर्देशों को ही 'आगम' मानकर जैसा व्यवहार कर रहे हैं; उससे सम्पूर्ण समाज चिंतित है। क्योंकि जिस श्रामण्य की प्रतिष्ठा आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द ने अत्यन्त दृढ़ता पूर्वक की थी, उसकी गरिमा को तो ये मलिन कर ही रहे हैं, साथ ही उसके मूलस्वरूप को भी मनमाने ढंग से व्याख्यायित कर रहे हैं। ऐसी विषम परिस्थितियों में आगम की मर्यादा का बोध कराते हुए साधुचर्या का स्वरूप एवं महिमा विदुषी लेखिका ने सप्रमाण विनम्र शब्दों में मर्यादितरूप से इस आलेख में प्रस्तुत किया है।

—सम्पादक

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में निर्ग्रन्थ श्रमणों का जैसा यशोगान किया गया है, उसे देखकर स्वतः जिज्ञासा होती है कि निर्ग्रन्थ श्रमणों के स्वरूप में ऐसी क्या विशेषता थी, जिसके कारण जैनेतरों ने भी सदा से उनका सबहुमान उल्लेख किया है? ऐसा नहीं है कि मात्र न्यायग्रंथों में पूर्वपक्ष के रूप में उन्होंने जैनों का उल्लेख किया हो; अपितु उन्होंने अपने सिद्धान्तग्रन्थों एवं तत्त्वज्ञान-प्ररूपक शास्त्रों में भी निर्ग्रन्थ श्रमणों का विशेषरूप अनेकत्र सादर उल्लेख किया है। उदाहरण-स्वरूप 'भागवत' के इस पद्य को देखें:—

“सन्तुष्टाः करुणाः मैत्राः शान्ता दान्तास्तितिक्षवः ।

आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणा जनाः ॥”

—(भागवत, 12/3/19)

अर्थः—श्रमणजन (निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुजन) सन्तोषी वृत्तिवाले, करुणापूरित हृदयवाले, प्राणीमात्र के साथ मैत्रीभावयुक्त, शान्तपरिणामी, इन्द्रियजयी, आत्मा में ही मग्न रहनेवाले एवं समतादृष्टिमय (समभावी) होते हैं।

इसमें अनेकों प्रशस्त विशेषणों से न केवल जैनश्रमणों का परिचय दिया गया है, अपितु उन्हें इतने उत्कृष्ट विशेषणपदों से बहुमानित भी किया गया है।

यहाँ तो मात्र आदरभाव व्यक्त करके महिमागान ही किया गया है, किंतु शिवभक्त

कवि भर्तृहरि ने तो दिगम्बर श्रमण बनने की ही भावना स्पष्टरूप से व्यक्त कर दी है:— “एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः ।

कदा शम्भो ! भविष्यामि कर्म-निर्मूलन-क्षमः ॥” —(वैराग्यशतक, 89)

अर्थ:—हे शम्भु (शिव) ! मैं समस्त कर्मों को निर्मूल (नष्ट) करने में सक्षम एकाकी, निराकांक्षी, शान्तचित्त, करतलभोजी दिगम्बर श्रमण कब बन पाऊँगा?

ध्यातव्य है कि ये सभी विशेषण निर्ग्रन्थ दिगम्बर जैन श्रमणों के हैं। अतः प्रतीत होता है कि इन्हीं विशेषताओं के कारण ही इन जैनेतर-विद्वानों ने जैनश्रमणों एवं श्रामण्य के प्रति इतना आदर/बहुमान व्यक्त किया है। जैनश्रमणों की इन्हीं असाधारण विशेषताओं के कारण ‘भागवत’ के कर्ता ने उनकी उत्कृष्ट स्थिति भी स्वीकार की है—

“मुनीनां न्यस्तदंडानां शान्तानां समचेतसाम् ।

अकिंचनानां साधूनां यमाहुः परमां गतिम् ॥” —(भागवत, 10/89/17)

अर्थ:—मन-वचन-काय इन तीनों दंडों को अनुशासित (मर्यादित) रखनेवाले, शान्तस्वभावी, समताभावी, अपरिग्रही साधु, जिन्हें ‘मुनि’ भी कहा जाता है, की उत्कृष्ट गति होती है। अर्थात् इनकी भविष्य में नियमतः सद्गति ही होती है।

आज के परिप्रेक्ष्य में हम विचार करें कि आज के श्रमणों में वे गुण किस स्थिति में हैं, जिनके कारण वे सर्वत्र बहुमानित होते थे?

क्या कारण था कि भरतमुनि जैसे महामनीषी को निर्देश देना पड़ा कि निर्ग्रन्थ मुनि के साथ ‘भदन्त’ (भगवान्) संबोधनपूर्वक अत्यन्त आदर के साथ संभाषण करना चाहिये— “निर्ग्रन्था भदन्तेति प्रयोक्तृभिः ॥” —(नाट्यशास्त्रम्, 17/7)

इतिहास साक्षी है कि जैनश्रमण न केवल चारित्रिक-साधना, अपितु ज्ञानगौरव के कारण भी सदैव प्रेरणास्रोत रहे हैं। यदि ऐसा न होता, तो अनेकों जैनेतर मनीषी जैन-परम्परा में श्रमणदीक्षा लेकर श्रामण्य की गौरववृद्धि नहीं करते। आचार्य विद्यानन्दि स्वामी (8वीं शता० ई०) जैसे महान् आचार्य ऐसे ही श्रमणों की श्रेणी में आते हैं।

ज्ञान की ऐसी उत्कृष्ट गरिमा यों ही प्रकट नहीं हुई थी। अपितु श्रमण-परम्परा के साधक आगमग्रन्थों का विधिवत् सूक्ष्म अध्ययन करके ही इस गरिमा के योग्य बन सके थे। यह उनका अनिवार्य कर्तव्य था।

सुप्रसिद्ध निर्ग्रन्थाचार्य शिवार्य इस बारे में लिखते हैं:—

“कंठगदे वि पाणे हि, साहुणा आगमो हि कादव्वो ॥” —(भगवती आराधना, 153)

अर्थात् प्राण कण्ठ में आ बसे हों — ऐसा भीषण संकट उपस्थित हो जाये; तो भी साधुओं (निर्ग्रन्थ दिगम्बर श्रमणों) को आगमग्रन्थों का स्वाध्याय ही करना चाहिये।

जैनश्रमण अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगी होते थे। इसी बात की पुष्टि इस पद्य से होती है—

“परं पलितकायेन कर्तव्यः श्रुतसंग्रहः ।

न तत्र धनिनो यान्ति यत्र बहुश्रुताः ॥”

अर्थ:—अत्यधिक वृद्ध हो जाने पर भी शास्त्रों का अभ्यास (श्रुतसंग्रह) निरन्तर करते रहना चाहिये। इसका एक विशेष लाभ यह होता है कि जहाँ ऐसे बहुश्रुत (शास्त्रज्ञानी) श्रमण/मनीषी जाते हैं, वहाँ धनार्थी और धनवान् लोग नहीं जाते हैं।

इसका सुपरिणाम यह होता है कि उनकी ज्ञानसाधना निर्विघ्नरूप से चलती रहती है तथा सांसारिक प्रपंचों में उनका मन चलायमान नहीं हो पाता है।

जैनाचार्य शर्ववर्म अपने व्याकरण-ग्रन्थ में इस बारे में निम्नानुसार निर्देश करते हैं— “यावति विन्द जीवो ।” —(कालापक-कातंत्र व्याकरण, 4/6/9, पृ० 799)

भाष्य — “यावज्जीवमधीयते । यावन्तं जीवति तावन्तं अधीते इत्यर्थः ।” अर्थात् जब तक जीवित रहता है, तब तक पढ़ता है।

संभवतः यह निर्ग्रन्थ दिगम्बर जैन श्रमण को दृष्टि में रखकर ही उन्होंने लिखा है। शास्त्राभ्यास में ही निरन्तर गहन रुचि एवं तल्लीनता के कारण वे ज्ञानी-ध्यानी श्रमण अन्य प्रशस्त सांसारिक क्रियाओं से भी प्रायः विरत रहते हैं। ‘क्रियाकलाप’ ग्रंथ में इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा गया है—

“ये व्याख्यान्ति न शास्त्रं न ददाति दीक्षादिकञ्च शिष्याणाम् ।

कर्मोन्मूलनशक्ता ध्यानरतास्तेऽत्र साधवो ज्ञेयाः ॥”

—(सामायिक दण्डक, 4, पृ० 143)

अर्थ:—जो न तो लोगों के बीच जाकर (पंडितों की तरह) शास्त्रों का व्याख्यान करते हैं, न शिष्यों को दीक्षा देने आदि के कामों में लगे रहते हैं; मात्र कर्मों को नष्ट करने में अपनी शक्ति का उपयोग करते हुये जो आत्मध्यान में लीन हैं, उन्हें ही साधु जानना चाहिये।

ऐसा क्यों? —तो विचार करने पर समाधान मिलता है कि शास्त्राभ्यास एवं आत्मध्यान अबाधित बना रहे — इसी भावना से वे ऐसा करते हैं। क्योंकि शास्त्र-सिन्धु अगाध, अपार है; इस छोटे-से मनुष्य जीवन में क्षुद्र-क्षयोपशमरूपी नौका से इसका पार पा सकना असंभव है। अतः जितना बन सके ज्ञान-ध्यान में लीन रहें। अनावश्यक उपदेश देने, दीक्षा देकर संघ बढ़ाने के चक्कर में कौन पड़े?

फिर भी कदाचित् उपदेश देने में रागवश प्रवृत्त हो भी जायें, तो फिर व्यापक शास्त्रज्ञान, स्मरणशक्ति की कमी किंचित् मात्र भी प्रमादभाव होने से शास्त्र की मर्यादा के विरुद्ध वचन संभव हैं। तथा ऐसे लोगों (आगमविरुद्ध बोलने वालों) के लिए शास्त्र में ‘दीक्षाच्छेद’ के प्रायश्चित्त का विधान किया गया है—

“उत्सूत्रं वर्णयित् कामं जिनेन्द्रोक्तमिति बुवन् ।

यथाच्छंदो भवत्येष तस्य मूलं वित्तीयते ॥”

—(प्रायश्चित्त-समुच्चय, 236, पृ० 136)

अर्थ:—जो साधु आगम-विरुद्ध बोलता है, उसे मूल-प्रायश्चित्त देना चाहिये। तथा जो सर्वज्ञप्रणीत वचनों को छोड़कर अपनी इच्छानुसार लोगों के बीच बोलता है, वह 'स्वेच्छाचारी' है; अतः उस स्वेच्छाचारी को मूलच्छेद (दीक्षाच्छेद) का प्रायश्चित्त देना चाहिये।

इसीलिए कहा गया है कि तपःसाधना के साथ-साथ शास्त्राभ्यास को साधुजनों में कदापि शिथिलता भी नहीं करना चाहिये। अन्यथा जैसे सीमा पर खड़े फौजी के हाथ से शस्त्र निकलते ही उसका मरण हो जाता है, वह आत्मरक्षा और राष्ट्ररक्षा में समर्थ नहीं हो पाता है; उसीप्रकार यदि श्रामण्य को अंगीकार करनेवाले साधु के हाथ से शास्त्र छूट जाते हैं अर्थात् वह शास्त्राभ्यास में प्रमादी हो जाता है, तो विषयों के आकर्षणजाल में उलझकर उसका पतन अवश्यभावी है; वह न तो श्रमणचर्या की रक्षा कर सकता है और न ही समाज को सही दिशा देने में समर्थ हो सकता है।

शास्त्राभ्यास ही उनके मन को शांत और उद्वेगरहित रखकर श्रामण्यपथ पर अग्रसर रखता है। —इस तथ्य को ध्यान में रखकर वर्तमान श्रमणों को भी आगमग्रंथों का गहन अभ्यास करना चाहिये। तथा यदि उपदेश आदि का प्रसंग उपस्थित हो, तो मूलग्रंथों को सामने रखकर उसी के अनुसार व्याख्यान देने चाहिये। इसके अतिरिक्त मेलों, जलूसों, आन्दोलनों, पूजा-पाठ आदि कार्यों व धनसंग्रह जैसे श्रामण्यविरुद्ध कार्यों से बचकर रहना चाहिये। तथा समाज को भी चाहिये कि वह श्रमणों की शास्त्रोक्त साधनापद्धति को जानकर उनकी ज्ञानसाधना में साधक बने और उनसे सांसारिक बातों की चर्चा भी नहीं करे। परिग्रह-संग्रह की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने का तो पूर्ण बहिष्कार ही होना चाहिये। अन्यथा श्रमणधर्म और समाज—दोनों का भविष्य अंधकारमय हो जायेगा। ❖❖

प्राचीन राजनीति की सफल आधारशिला

अहिच्छेत्र का राजा पद्यनाभ था, उसके ऊपर उज्जैन नरेश ने आक्रमण कर दिया। पद्यनाभ ने सुरक्षा के लिए अपने पुत्र माधव और ददृगि को राजचिह्नों सहित अन्य प्रदेश में भेज दिया। दोनों राजकुमार कर्नाटक देश के जिनमन्दिर में जिनेन्द्रदर्शन को गये। वहीं पर आचार्य सिंहर्नदि के दर्शन कर उनका आशीर्वाद प्राप्त किया। आचार्यश्री ने उन्हें विद्वान् बनाकर वहाँ का राजा बना दिया तथा मोरपिच्छी को राजध्वज का चिह्न बनाया। आचार्यश्री ने उन्हें शिक्षायें दीं— जब तक 1. तुम लोग वचन भंग नहीं करोगे, 2. जिनशासन से विमुख नहीं बनोगे, 3. परस्त्री के ऊपर कुदृष्टि नहीं डालोगे, 4. मद्य-मांस का सेवन नहीं करोगे, 5. नीच व्यक्तियों की कुसंगति नहीं करोगे, 6. याचकजनों को दान देते रहोगे, 7. रणभूमि में पीठ नहीं दिखाओगे, तब तक तुम्हारा शासन और कुल नष्ट हो जायेगा। इस शिक्षा पर दूसरी शताब्दी से 16वीं शताब्दी तक इस गंगवंश के जैन राजाओं का 1500 वर्षों तक दक्षिण में राज्यशासन जैन गुरुओं के तत्त्वावधान में चलता रहा। ❖❖

एक महत्वपूर्ण प्रश्न का समाधान

—नाथूलाल जैन शास्त्री

आधुनिकतावादी अपरिक्व विद्वान् शास्त्र की मर्यादा को भलीभाँति समझे बिना कैसे-कैसे अनर्थ उत्पन्न कर लेते हैं। इन अनर्थों का एकमात्र कारण शब्द को 'लकीर के फकीर' की तरह पकड़ना है। वस्तुतः आचारशास्त्रीय शब्दों का प्रामाणिक अर्थ व्यापक अध्ययन, परम्परा एवं व्यवहार का सूक्ष्मज्ञान हुए बिना ठीक-ठीक नहीं निकाला जा सकता है। वयोवृद्ध मनीषी साधक पं० नाथूलाल जी शास्त्री ने एक ऐसे ही प्रश्न का अत्यन्त प्रामाणिक समाधान इस आलेख में किया है।

—सम्पादक

अनेक विद्वान् और श्री जुगल किशोर जी मुख्तार कंदमूलादि को सचित्त को अचित्त करके खाने, खिलाने में दोष नहीं मानते थे। मुख्तार साहब का 'गलती और गलतफहमी' शीर्षक निबन्ध, उनकी 'युगवीर निबंधावली' दूसरा भाग में प्रकाशित है, जिसके प्रभाव से ऐलक पन्नालाल जी और ब्र० ज्ञानानंद जी ने आहार में अचित्त आलू खाना प्रारंभ कर दिये थे। 'जैनगजट' के पूर्व अंक में इसके समाचार भी प्रकाशित हुये थे।

अमेरिका के कुछ स्वाध्यायप्रेमी सज्जनों ने श्री डॉ० नंदलाल जी, रीवा द्वारा मेरे पास अनेक प्रश्नों में से यह सचित्त-संबंधी प्रश्न भी भेजा गया है।

“मूल-फल-शाक-शाखा-करीर-कंद-प्रसून-बीजानि।

नामानि योऽस्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः।।”

—(आचार्य समंतभद्र, रत्नकरंड श्रावकाचार 4)

अर्थः—पंचम प्रतिमाधारी श्रावक कच्चे मूल, फल, शाक, शाखा, करीर, कंद (आलू शकरकंद आदि), फल और बीज नहीं खाता अर्थात् इन्हें अग्नि में पकने पर खा सकता है और ऐसा दयामूर्ति मुनि आदि को आहार में दे भी सकता है।

“फल-कंद-मूल-वीयं अणगिगपक्कं तु आमयं किंचि।

पच्छा अणंसणीयं णाविय पडिच्छंति ते धीरा।।”

—(‘मूलाचार’, आचार्य बट्टकेर, गा० 827)

अर्थः—अग्नि में नहीं पके हुए फल, कंद, मूल, बीज तथा और भी कच्चे पदार्थ जो खाने योग्य नहीं है, ऐसा जानकर धीर मुनि उन्हें स्वीकार नहीं करते।

श्रावकों और मुनियों-संबंधी उक्त दोनों पद्यों का जो अनुवाद प्रकाशित है, उनसे तो यही मालूम पड़ता है कि उक्त कंद आदि अग्नि में पकने पर खाद्य हैं। यहाँ त्याग की दृष्टि से आचार्य का लिखना उचित है; क्योंकि सूत्ररूप में वाक्य लिखना पूर्वाचार्यों का उद्देश्य रहा है।

श्रावकों के लिए समाधान यह है कि जैन अहिंसक होता है। जो हिंसा के कारण है, उनसे वह सदा दूर रहता है। उसके आहार-विहार में अहिंसा का पालन होता है। मद्य, मांस, मधु, पंच उदम्बर फल, कन्द (आलू, शकरकंद, गाजर, मूली आदि) बेगन, दहीबड़ा, रात्रि अन्नाहार, अमर्यादित अचार आदि 22 अभक्ष्य के आरंभ का 'पाक्षिक' श्रावक (अहिंसा का पक्ष रखनेवाला) की प्रथम अवस्था से ही त्याग होता है। श्रावक के बारह व्रतों में जब वह पंच अणुव्रतों को दृढ़ करते हुए गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों को धारण करता है; तब 'भोगोपभोग-परिमाणव्रत' के अन्तर्गत

“अल्पफल-बहुविघातान्मूलकमार्द्रणि शृंगवेराणि ।

नवनीतं निंबकुसुमं मेतकमित्येवमवहेयम् ॥”

—(रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 84)

अर्थ:—श्लोक 83 में मद्य, मांस, मधु-त्याग का कथन आया है। उनके साथ ही इस श्लोक में लाभ कम और जीवहिंसा-बहुल ये मूली, अदरक, शृंगबेर, मक्खन, निंब के फल, केतकी-पुष्प इत्यादि को भी त्यागना चाहिये। —यह कहा गया है। इनमें अनंतानंब बादर निगोदिया जीव तो रहते ही हैं और त्रस-जीवों की भी शंका रहती है; अतः इन जीवों की हिंसा से श्रावक को बचना चाहिये।

यहाँ प्रकरणवश भोग के अंतर्गत मद्य, मांस, मधु आदि का त्याग बताया है; जिनका श्रावक आजीवन त्याग करता है। इसका यह अर्थ नहीं लेवें कि इस व्रत के पूर्व श्रावक मद्य, मांस आदि का त्यागी नहीं था। क्योंकि 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में पाक्षिक, नैष्ठिक, साधक इन श्रावक के दर्जों का वर्णन नहीं कर प्रारंभ से ही 12 व्रतों का 11 प्रतिमाओं का वर्णन किया। यही बात चौथी प्रतिमा 'सचित्तविरत' में ही जान लेना चाहिये। वहाँ श्लोक 141 में मूलफल-शाक आदि जो श्लोक है, उसमें जो 'मूल-फल-शाक-शाखा-करीर-कन्द' आदि अभक्ष्य फल आये हैं, इनका त्याग क्या इस प्रतिमा में होता है। उसके पहले यह श्रावक तीसरी प्रतिमा तक खाता था? यहाँ भी प्रकरणवश ये नाम सचित्त के अंतर्गत आये हैं। किन्तु यहाँ पूर्ववत् यह नियम है—

“स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धा ।”

अर्थ:—पूर्वव्रतों के साथ आगे के व्रत पालन किये जाते हैं।

यह तथ्य 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' के कर्ता आचार्य समंतभद्र, जो कि विक्रम की द्वितीय शताब्दी के प्रमुख आचार्य थे, के द्वारा कहा गया है।

अतः जब 'मूल-फल-शाक-शाखा-करीर-कंद-प्रसून-बीजानि' आदि इनका सचित्त-अचित्त दोनों प्रकार से अभक्ष्य और भोगोपभोग के अंतर्गत त्याग हो चुका है, तो यहाँ प्रकरणवश कहा गया मान लेना चाहिये। इसके पश्चात् सचित्त में जो ठंडा छना जल और नमक जो सचित्त माना जाता है, उसे लेना होगा। उनका त्याग इस प्रतिमा में है, यह निश्चित होता है। यहाँ सकलकीर्ति-कृत 'श्रावकाचार' के अनुसार मूलफल आदि अभक्ष्य (त्याज्य) माने गये हैं, जिनको यहाँ 'सचित्त' शब्द द्वारा बताया गया है।

मुनिराज के आचारग्रंथ 'मूलाचार' गाथा 827 में भी जो 'फल-कंद-मूल-बीज' आदि बतला चुके हैं, उसका भी समाधान उक्त प्रकार ही है। किन्तु प्रश्नकर्ता लिखता यह है कि 'हमें प्रथम द्वितीय शताब्दी या प्रमुख बट्टकेर आचार्य द्वारा किये गये समाधान ही मान्य होंगे।' अतः इस 827 नं० की गाथा, जो सूत्ररूप में है, व्याख्यारूप में आचार्य वसुनंदि द्वारा की गई व्याख्या के अनुसार बतलानी होगी। उपगाथा में चार पृथक्-पृथक् पद हैं:— 1. फलानि कंदमूलानि, 2. बीजानि, 3. अनाग्निपक्वानि ये भवति, 4. अन्यदपि आमकं यत्किंचित्। तदनशनीयं ज्ञात्वा नैवं प्रतीच्छति नाग्युपगच्छति ते धीराः।

अर्थ:—कंदमूल फल (यह स्वतंत्र शब्द है) और 2. बीज (यह अंकुरोपति की उपेक्षा अभक्ष्य है), 3. जो दूसरे फल अग्नि में नहीं पकाये हैं, तथा 4. इसके सिवाय जो भी सचित्त कच्चा (ठंडा छना हुआ जल, नमक आदि) पदार्थ हैं, उसे 'सचित्त' या 'अभक्ष्य' मानकर साधु को नहीं देना चाहिये और न साधु लेते हैं। ऐसे साधु धीर होते हैं।

यहाँ तीसरे नंबर में अनग्निपक्व फलों में सभी जो भक्ष्य फल हैं, वे डाल या पाल में पके हुए होते हैं, किंतु संदिग्ध होने से अग्नि में पकाकर ही काम में लिये जाते हैं। इस गाथा के विषय के समर्थन में 'मूलाचार' की ही गाथा निम्नप्रकार है:—

“णट-रोम-जंतु-अट्टी-कण-कुंडय-पूय-चम्म-सतिर-मज्जाणि।

बीज-मूल-कंद-मूला-छिवणाणि मला चउदसा होंति।। 484।।

यहाँ अर्थ में 134 आहार-संबंधी 'मल-दोष' वर्णित हैं, जो 46 दोषों के अंतर्गत माने गये हैं। ये नख, रोम, हड्डी, रुधिर, मांस, बीज, कन्द, मूल फल आदि हैं। ये मुनिराज के आहार में आ जायें, तो वह भोजन त्याज्य हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि नवधाभक्ति के बाद मुनिराज के आहार में कन्द-मूल आदि के अग्निपक्व होने पर भी त्याज्य माने जाने से ये अभक्ष्य ही हैं।

'भावपाहुड' (आचार्य कुन्दकुन्दकृत) गाथा 103 में भी पं० जयचन्दजी छाबड़ा ने बतलाया है कि "कंदमूलादि सचित्त यानै अनंत जीवनि की काया होने से अभक्ष्य हैं। इनके खाने से अनंत स्थावर जीवों का घात होकर अनंत संसार में भटकना होता है।" 'श्रावक धर्मसंग्रह' में कन्द-मूलादि को अनंतर स्थावर (बादर) एवं सशक्ति त्रस-जीवों से सहित बतलाया है।



गोरदा से अहिंसक संस्कृति की रक्षा

—आचार्य विद्यानन्द मुनिराज

प्राणीमात्र के प्रति समभाव रखनेवाले अहिंसकवृत्तिप्रधान जैनधर्म में सम्पूर्ण प्राणियों एवं पर्यावरण के प्रति अनन्य हितचिंतन उपलब्ध होता है। जैनधर्म किसी प्राणी विशेष की रक्षा के प्रति पक्षधर कभी नहीं रहा, अपितु प्राणीमात्र के प्रति दयालुता एवं उसकी प्राणरक्षा का शुभ संकल्प इसका मूलमंत्र रहा है। 'गो' शब्द आज रूढ़ अर्थ में 'गाय' नामक पशुविशेष का वाचक हो गया है। प्राचीन सन्दर्भों में इसे पशुमात्र एवं प्राणीमात्र का वाचक भी माना गया है। एक निर्ग्रन्थ संत के अनुपम चिंतन से प्रसूत यह प्रभावी आलेख निश्चय ही आज के आन्दोलनों एवं आन्दोलकों को सही दृष्टि प्रदान कर सकेगा। ज्ञातव्य है कि यह आलेख आज से लगभग 25 वर्ष पूर्व लिखा एवं प्रकाशित हुआ था, तब आज के आन्दोलनों एवं आन्दोलकों का अंकुरण भी नहीं हुआ था। वर्तमान में जब गुजरात, राजस्थान आदि प्रांतों में अकाल की विभीषिका के कारण लाखों पशु पानी एवं चारे के अभाव में मर रहे हैं, तब ये गौरक्षा आन्दोलन वाले कहाँ मुँह छिपाये बैठे हैं। यह भी विचारणीय है। —सम्पादक

कामना-कलश की पूर्ति

आज भारतवर्ष गोवंश के लिए अभिशाप-भूमि बन रहा है। जिस देश की संस्कृति, सभ्यता और जीवन गोवंश की समृद्धि पर आश्रित हों, उसी में उसके लिए अरक्षणीय स्थिति का उत्पन्न होना, वास्तव में शोचनीय है। कृषि के महान् उपकारक, सात्त्विक शाकाहार को अमृतरस प्रदान करनेवाले गोवंश का ऋण अमाँसभोजी परिवार की पीढ़ियाँ भी नहीं चुका सकेंगी। शाकाहारी और अहिंसक समाज ने गोवंश से जितना दूध पिया है, उतना पानी भी पिलाने में वह अनुदार दिखायी दे रहा है। यथार्थ में देखा जाए तो गोवंश अहिंसक समाज-रचना का मुख्य आधार है, उसकी प्रथम आवश्यकता है। शाकाहारियों की रसोई का रसमय आलम्बन घृत, दुग्ध, दधि, नवनीत, तक्र, खोवा (मावा) और अनेक संयोगी व्यंजन गो के अमृतमय स्तन्य की देन है। जननी के दूध को बालक कुछ वर्षों पीता है, परन्तु गो-दुग्धपान तो वह जीवन-भर करता है। जननी केवल अपने शिशु-पुत्र को स्तन्यपान कराती है, परन्तु गाय अपने वत्स को पिलाने के साथ-साथ मानव की इच्छाओं के कलश को भी दूध से आकण्ठ-पूरित करती है; इसीलिए यहाँ गो को गृह्य-पशुओं में सर्वप्रथम स्थान दिया गया और 'गोधन गजधन वाजिधन' कहते हुए, उसे धन-सम्पत्ति भी स्वीकारा गया।

तिनके से क्षीर-समुद्र

गो-रहित भारतीय संस्कृति की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। प्राणीशास्त्र का अध्ययन अनुसंधान करनेवाले पुराण-भारतीयों ने गाय को पृथ्वी के समान गुणशील कहा है। नीतिकार कहते हैं—‘तृणं भुक्त्वा पयः सूते कोऽन्यो धेनुसमः शुचिः’ (अहो ! तिनके चबाकर दूध, उत्पन्न करनेवाली गो के समान और कौन पवित्र है?) यह भारतीयों द्वारा किया गया धेनु-सम्बन्धी निकट का अध्ययन है। इसमें यदि किसी को पक्षपात की गन्ध आये, तो वह गो के इतर पशुओं से विशिष्ट गुण के कारण है। गाय जब जलाशय पर पानी पीने जाती, है तो किनारे पर खड़ी रहकर पी लेती है; परन्तु गाय के समान अथवा उससे भी अधिक दूध देनेवाली महिषी (भैंस) जलाशय में उतरकर उसे मलिन कर देती है। खेतों में चरती हुई गाय घास का मूलोत्पादन नहीं करती, ऊपर-ऊपर से उसे चर लेती है; जबकि अन्य पशु अपनी जिह्वा और ओष्ठ-सम्पुट का दृढ़ आकुंचन कर मूल उखाड़कर खा जाते हैं। संभवतः इसीलिए श्रमण-जैन-साधु अपनी चर्या के लिए ‘गोचरी’ शब्द व्यवहार करते हैं; क्योंकि वे अनेक गृहस्थों को अबाधित रखते हुए भिक्षा ग्रहण करते हैं।

गौचर्या और गोचरी

दिगम्बर-सम्प्रदाय के आहार-विषय में कहा जा सकता है कि दिन निकलने के पश्चात् जिस समय (प्रायः 9-10 के बीच) गौयें चरने के निमित्त गोचर-भूमियों के लिए प्रस्थान करती हैं, वह समय मुनियों के आहार का होता है। इसप्रकार गृहस्थ ही नहीं, संन्यास-धर्म का रक्षण करने वाले मुनि, साधुजन भी गौओं के विहार से अपनी-चर्या का अनुबन्ध बताते हैं। ‘गोचरी’ शब्द का एक अन्य अभिप्राय और भी हृदयंगम करने योग्य है। कहते हैं, जिसप्रकार गौ घास लाकर रखने वाले व्यक्ति की ओर लक्ष्य न रखकर तृण-भक्षण की ओर ही अपना ध्यान लगाती है, उसीप्रकार आहार-निमित्त गृहस्थ के यहाँ पहुँचा साधु आहार-कवल देने वाले की अंग-चारुता, वेषविन्यास, अथवा सौंदर्य पर ध्यान नहीं रखकर गोचरी-ग्रहणमात्र का शास्त्र-विधि-सम्मत ध्यान रखता है। इसप्रकार गौ के स्वभाव पर चर्या के शब्द का निर्माण करने वाले शास्त्रकारों ने गौ में इतर पशुओं से विशिष्ट गुण का अनुसन्धान कर उचित सम्मान दिया है।

गार्ये : आगे, पीछे, सर्वत्र

कृषि-प्रधान भारत के सूक्तिकारों ने “गोभिर्न तुल्यं धनमस्ति किञ्चित्” —गोवंश के तुल्य अन्य धन नहीं है, कहते हुए गौ को भारतीयों का धन कहा है। पुराणों में गृहस्थों और नृपतियों के वैभव का वर्णन-परिचय उनके गौ-बहुल होने से किया गया है। आश्रम में नवागत शिष्य को प्रायः ‘गाश्चारय’ (गाय चराकर लाओ) से अध्ययनारम्भ कराया जाता था। सारे देश में घर-घर में गोपालन हो, इसी भावना से प्रत्येक दानादि धार्मिक अवसर पर दक्षिणारूप में गोदान होता था। प्रायः ऐसे सत्रों पर दाता ग्रहीता को वर्ष-भर के लिए

घास-फूस तथा अन्य पशु-भक्षणीय अन्नादि भी प्रदान करते थे। परिणामस्वरूप देश-भर में घृत-दुग्ध की नदियाँ प्रवाहित थीं। गृहस्थ अतिथियों के आगमन की प्रतीक्षा किया करते थे तथा कहते थे “अतिथीश्च लभेमहि श्रद्धा च मा नो व्यगमत्” अर्थात् हम अतिथियों को प्राप्त करते रहे, हमारी श्रद्धा कभी कम न हो और सौभाग्यपूर्वक को उजागर करने वाले अतिथि जब वे उन्हें मिल जाते थे, तब वे उन्हें प्रचुर दुग्ध-घृत पिलाकर उनका सत्कार करते हुए राष्ट्र में प्रचलित उस सूक्त को चरितार्थ करते थे, जिसमें कहा गया है— ‘घृतैर्बोधयतातिथिम्’ अतिथि का घृत से सत्कार करो। इन सूक्तों का प्रचलन ही इस तथ्य का समर्थक है कि गोवंश की पालना घर-घर में होती थी। श्रीकृष्ण वासुदेव ने तो गो-संवर्धन के लिए विशेष प्रयत्न किया और पर्वत जैसे इस विशाल, गुस्तर कार्य का भार उठाकर गोवर्धन किया। गायों के परिवर्धन में आर्यों के वैभव का विस्तार देखकर प्रत्येक भारतीय के लिए एक सूक्ति याद आती है— ‘गावो मे अग्रतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः ।’
‘गौयें मेरे आगे रहें, गौयें मेरे पृष्ठदेश में हों’ —इसप्रकार के उद्गार व्यक्त करने से ही आज भारत उन्हें ‘गोपाल’ कहकर पुकारता है।

अनदुहे-भरे दुग्ध-पात्र

संस्कृत साहित्य में गौ को ‘अघ्न्या’ (अदण्डनीय) कहा है। उस प्राचीन समय में गृहस्थ ‘गवाट’ रखते थे, जिनमें क्षीर-धार से क्षोणी (पृथ्वी) का अभिषेक करनेवाली कुम्भस्तनी गौएँ रहा करती थीं और वत्सपीतावशेष दुग्ध से बिना दुहे पात्र भर जाते थे। भगवज्जिनसेनाचार्य ने चक्रवर्ती भरत के दिग्विजय-प्रकरण में ऐसी बहुक्षीरा धेनुओं का वर्णन किया है, जिन्होंने गोचर-भूमि को स्वयं-प्रस्तुत दुग्धधार से सींच दिया था और जिनके समूह वनों में निर्बन्ध हरिणों-से विचर रहे थे, चर रहे थे। वे पद्य निम्नलिखित हैं—

‘गवां गणानयापश्यद् गोष्पदारण्यचारिणः ।

क्षीर मेघानिवाजसंक्षरत्क्षीरप्लुतन्तिकान् ।।

सौरभेयान् सशृंगाग्रसमुत्त्वातस्थलाम्बुजान् ।

मृणालानि यशांसीव किरतोऽपश्यदुन्मदान् ।।

आपपीतपयसः प्राज्यक्षीरा लोकोपकारिणीः ।

पयस्विनीरिवापश्यत् प्रसूताः शालिसम्मदः ।।’

—(जैनाचार्य जिनसेन, महापुराण, 26 पर्व, 109, 10, 115)

अर्थः—चक्रवर्ती भरत ने वनों की गोचरभूमि में चरते हुए गौओं के समूह देखे। वे समूह दूध के मेघों के समान निरन्तर झरते हुए समीपवर्तिनी भूमि को भिगो रहे थे। सींगों के नुकीले अग्रभाग से स्थल-कमलों को उखाड़कर इधर-उधर फेंकने में लगे हुए मानो भरत के यश को फैला रहे उन्मत्त बैलों को भरत ने देखा। उन्होंने यत्र-तत्र फैली हुई धानरूप सम्पदा को गायों के समान देखा, अर्थात् जैसे गौयें जल पीती हैं, उसीप्रकार धान्यक्षेत्र भी जल

पिये हुए थे; जिसप्रकार गौओं के स्तनों में दूध भरा रहता है, वैसे धान में भी दूध भरा हुआ था और जिसप्रकार गौयें लोकोपकार करती हैं, वैसे धान भी लोकोपकार करते हैं।

आज कन्धे ढले हुए हैं

यहाँ गौ के लिए जिस विशेषण पदावली का प्रयोग आचार्य ने किया है, वह ध्यान देने योग्य है। उन्होंने उन गौओं को क्षीर-मेघ, प्राज्यक्षीर और लोकोपकारी बताया है। उन गौओं के साथ देश का स्वास्थ्य भी पीनपुष्ट और क्षीरस्नात था, इसमें संदेह नहीं। बालक उस समय खड़े दूध पीते थे और बैलों के समान ऊँचे कन्धे वाले होते थे। गौवंश-पालन का यह प्रत्यक्ष लाभ था। जिसके अभाव में आज राष्ट्र के युवाओं के कन्धे ढले हुए हैं और रीढ़ की अस्थि बिना डोरी खींचे धनुष-समान ही झुकी हुई है। यह चिन्तनीय स्थिति है, जो राष्ट्र के बल-वैभव के लिए अभिशाप है।

आदिनाथ का चिह्न—‘वृषभ’

‘वाल्मीकि रामायण’ में लिखा है ‘भगवान् श्रीरामचन्द्र ने विद्वानों को विधिपूर्वक कोटि अयुत गौयें देकर गुणशील राजवंशों की स्थापना की’—

“गवां कोट्ययुतं दत्त्वा विद्वद्भ्यो विधिपूर्वकम्।

राजवंशान् शतगुणान् स्थापयिष्यति राघवः।।”

—(वाल्मीकि रामायण)

भारत में राजप्रासादों, कृषि और ऋषि-कुटीरों की समान शोभा थी। तुष्टि-पुष्टि के लिए गौ को ‘कामधेनु’ संज्ञा दी गयी है। उपनिषदों में स्थान-स्थान पर वैदिक ऋषियों को राजाओं ने गोदान किया है। एक बार राजा जनक ने एक सौ गौओं को अलंकृत कर ऋषियों से कहा कि “आप में जो ब्रह्मवेत्ता है, वह इन गौओं को ले जाए।” महर्षि याज्ञवल्क्य गौओं को हाँककर ले चले। अन्य विद्वान् ऋषियों ने प्रश्न किया कि—“हे याज्ञवल्क्य ! क्या आप ब्रह्मज्ञानी हैं?” याज्ञवल्क्य ज्ञानी थे, परन्तु उन्होंने निरभिमानी होकर कहा—“ब्रह्मवेत्ता को तो हम सिर झुकाते हैं। हमें तो दूध पीने के लिए गौओं की आवश्यकता है।” तात्पर्य यही है कि प्राचीन राजाओं को गोदान प्रिय था। वे मनोविनोद के लिए भी ऐसे प्रकरण ढूँढ़ निकालते थे, जिनमें ब्रह्मचर्चा भी हो जाती थी और गोदान के वांछित अवसर भी सुलभ हो जाते थे। प्रजापति ऋषभनाथ का चिह्न वृषभ है। कर्मभूमि में कृषि के आदि उपदेष्टा के लिए वृषभ-चिह्न धारण करना उपयुक्त ही है; इसीलिए आचार्य समन्तभद्र ने भक्ति-उच्छ्वासित होकर उन्हें कृषि-उपदेष्टा कहते हुए लिखा—‘प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः’। परन्तु आज का युग विचित्र है। जिनकी जीविका का आलम्बन विद्या है, वे सरस्वती-भक्त नहीं, स्वाध्याय-रसिक नहीं हैं; और जो गाय-बछड़े का चिह्न धारण कर स्वयं को वृषभ-भक्त, कृषि-प्रिय, कृषक-मित्र इत्यादि व्यक्त करते एवं उसी से मत प्राप्त कर समाज एवं राष्ट्र

में अग्रणी बनते हैं, वे भी अपनी उन उक्तियों पर आचरण कहाँ करते हैं?

बादल खेती झुलसा रहे हैं

तीर्थकर पंचकल्याणक-महोत्सव में जिन-जन्म-कल्याणक प्रकरण में कलशाभिषेक से पूर्व सवत्सधेनु की 'प्रतिष्ठातिलक' में उपस्थितिकरण-विधि है। जिन-जन्म-कल्याणक में उपस्थित की जाने वाली गौ को महीने भर छना हुआ पानी और सूखा चारा दिया जाता है और पूर्ण अहिंसकवृत्ति से उसका पालन किया जाता है। तीर्थकर महावीर के समक्ष सिंह और गौ को एक पात्र में नीर पीते हुए दिखाया गया है। जहाँ स्वभावतः हिंसक प्राणी के हृदय में एक तरह से अहिंसा की स्थापना की गयी है, वहाँ अहिंसक मनुष्य ही गोरक्षा का विरोधी हो तो कहना होगा कि "बादल खेती को जला रहे हैं, बाड़ खेत को खा रही है।" 'मेघहिं बरसे तृण जले, बाड़ खेत को खाए। भूप करे अन्याय तो, न्याय कहाँ पर जाए?' इसीलिए 'छहढाला' में दौलतरामजी ने कहा—'धर्मो सो गोवच्छ-प्रीति-सम कर जिनधर्म दिपावे' (3 ढाल, 23वाँ पद)। जैसे गौ अपने वत्स पर प्रीति रखती है, वैसे धर्म-वात्सल्य की रक्षा से धर्मों को जिनधर्म पर ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' (धार्मिकों के बिना धर्म नहीं रहता)।

जैन : गो-पालन के सत्याग्रही

धर्म को वाणी-विलास का विषय नहीं, व्यवहार का अंग बनाना आवश्यक है। 'क्षत्रचूडामणि' में जीवधर-कथा में गौरक्षा का एक सुन्दर प्रकरण जैन आचार्य वादीभसिंह ने दिया है: एक समय व्याध-जाति के लोगों ने गोपों की गायों का हरण कर लिया। गोप काष्ठांगार की राजसभा में आकर, रोने-चिल्लाने लगे। राजा ने सेना को उन्हें लौटाने के लिए भेजा, परन्तु सेना पराजित हो गयी। उस समय निराशा में डूबते हुए उन गोपालों की गायों को सत्यन्धर-पुत्र जैन राजकुमार जीवन्धर ने पराक्रमपूर्वक व्याधों को विजित कर प्राप्त किया। 'ननन्द नन्दगोपोऽपि गोधनस्योपलम्भतः' —इससे गोपाल-कुल में हर्ष छा गया। जैन राजकुमार जीवन्धर ने गोरक्षा के लिए अपने प्राणों की परवाह नहीं की और वीरता से उन्हें बन्धन-मुक्त किया; क्योंकि क्रिया-रहित वाणी निष्फल है। जो मानव संकल्पों को क्रियाफलवान् बनाता है; वही संकल्पितों का वास्तविक दोगधा माना जाता है। मुनियों ने वात्सल्य-भाषा का प्रयोग करते समय गौ का अनेक बार दृष्टान्त के साथ वर्णन किया है। जैन लोग गो-पूजा नहीं, परन्तु गोरक्षा और गोपालन के सत्याग्रही हैं। 'प्रजा कामदुघा धेनुर्मतान्योन्ययोजिता' —न्यायपूर्वक पालन की हुई प्रजा कामधेनु गौ समान है।

"सम्पूजकानां प्रतिपालकानां यतीन्द्रसामान्यतपोधनानाम्।

देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः करोतु शान्तिं भगवान् जिनेन्द्रः ॥"

अर्थ:—तीर्थकर वृषभदेव-महावीर जिनेन्द्र कृपया पूजा-अर्चा करनेवालों, प्रतिपालकों, यतीन्द्रों और सामान्य तपोधनों तथा देश, राष्ट्र, नगर और शासकों के लिए शान्तिकारक हों।

इष्ट प्रार्थना

‘क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः ।
काले काले च वृष्टिं वितरतु मघवा व्याघ्रयो यान्तु नाशम् ।।’
दुर्भिक्षं चौरमारिः क्षणमपि जगतां मा स्म भूज्जीवलोके ।
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रसरतु सततं सर्वसौख्य-प्रदायि ।।

अर्थः—सम्पूर्ण प्रजाओं का कल्याण हो, शक्तिशाली धर्मात्मा भूमिपाल (शासन, राज्य में) प्रभावशील रहें। समय-समय पर इन्द्र (मेघ) भली प्रकार यथोचित, वर्षा करें, व्याधियों का नाश हो। दुष्काल, चोर और महामारी जगत् को कष्ट देने के लिए क्षण-भर न हों और सबको सुख प्रदान करनेवाला तीर्थंकर वृषभादि का जिनशासन और ‘धर्मचक्र’ विश्व में निरन्तर प्रभावशील रहे।

गो-वध : कैसा अर्थशास्त्र?

आज के दिग्भ्रान्त नायकों ने राष्ट्र को अशुचिता के हाथ बेच दिया है। उदर-भरण के लिए वैदेशिक अन्न का आयात करने पर भी उन्हें मत्स्य-मुर्गी-पालन में राष्ट्रीय क्षुधा की तृप्ति दिखायी देती है, विदेशी-मुद्रा अर्जित करने के लिए गोहत्या आवश्यक प्रतीत होती है। सुभाषित के समान मधुर तथा साधु के समान निर्दोष गौ को मारकर गोपालक गोपालकृष्ण के राष्ट्रीय सहोदर और महावीर भगवान् के अहिंसक देश के प्रतिनिधि व्यापारी किस अन्ध-पातक के अतल-गह्वर में गिरे जा रहे हैं? —यह वक्तव्य क्या जाग्रतप्रबोध मात्र नहीं है! जिह्वा-लोलुपता के शिकार मांस-में-मांस की आहुति दे रहे हैं। यह शरीर, जिसमें आत्मा का निवास है, जिसके सहयोग से देवत्व और उससे उत्कृष्ट अमर विभूतिपद मिल सकता है, विवेकहीन हो कर उन दुर्गन्धियों के ढेर का चक्कर लगा रहा है, जिन्हें देखकर भी घृणा होती है। संस्कारों के जहाँ संकीर्तन होते हैं, पवित्रता के घण्टे गूँजते हैं, धर्म के दस विभूति-चरणों को जहाँ हृदयंगम किया जाता है, जहाँ के लोग आज भी सात्त्विकता के पक्ष में है, मुनियों, महर्षियों का वैयवृत्त्य जिन्हें प्रसन्न करता है, वहाँ रौरव नरक का दृश्य उपस्थित करनेवाले बूचड़खाने अन्न की कमी के नाम पर, मुद्रास्फीति की दुहाई दे कर और जिह्वा की खोटी माँग से लाचार हो कर चलाये जायें, वहाँ के पाप को गंगा की धारा, अकलंक आचार्य का दिग्विजय और मुनि-महर्षियों का धर्म-प्रवचन कितना प्रक्षालित कर सकता है? ❖❖

आत्मज्ञान की महिमा

“तातै आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान भी कार्यकारी नहीं। या प्रकार सम्यग्ज्ञान के अर्थि जैनशास्त्रनिका अभ्यास करै है, तो भी याके सम्यग्ज्ञान नहीं।”

—(‘मोक्षमार्ग प्रकाशक, 7, पृष्ठ 349) ❖❖

वैशाली

—रामधारी सिंह 'दिनकर'

ओ भारत की भूमि बन्दिनी ! ओ जंजीरों वाली !
तेरी ही क्या कुक्षि फाड़कर जन्मी थी वैशाली?
वैशाली ! इतिहास-पृष्ठ पर अंकन अंगारों का,
वैशाली ! अतीत-गह्वर में गुंजन तलवारों का,
वैशाली ! जन का प्रतिपालक, गण का आदि विधाता !
जिसे ढूँढ़ता देश आज उस प्रजातन्त्र की माता ।
रुको, एक क्षण पथिक ! यहाँ मिट्टी को शीश नवाओ,
राजसिद्धियों की समाधि पर फूल चढ़ाते जाओ ।।
डूबा है दिनमान इसी खंडहर में डूबी राका,
छिपी हुई है यहीं कहीं धूलों में राजपताका ।
ढूँढ़ो उसे, जगाओ उनको जिनकी ध्वजा गिरी है,
जिनके सो जाने से सिर पर काली घटा धिरी है ।
कहो, जगाती है उनको बन्दिनी बेड़ियोंवाली,
नहीं उठे वे, तो न बसेगी किसी तरह वैशाली ।।
फिर आते जागरण-गीत टकरा अतीत-गह्वर से,
उठती है आवाज एक वैशाली के खँडहर से ।
“करना हो साकार स्वप्न को, तो बलिदान चढ़ाओ,
ज्योति चाहते हो, तो पहले अपनी शिखा जलाओ ।
जिस दिन एक ज्वलन्त पुरुष तुम में से बढ़ आयेगा,
एक-एक कण इस खंडहर का जीवित हो जायेगा
किसी जागरण की प्रत्याशा में हम पड़े हुए हैं,
लिच्छवी नहीं मरे, जीवित मानव ही मरे हुए हैं ।।”

—(साभार उद्धृत Homage to Vaisali, पृ० 299) ❖❖

श्रुतज्ञान और अंग-वाङ्मय

—राजकुमार जैन

जैन-आम्नाय में मूलसंघ की परम्परा के अनुसार जो श्रुत का संरक्षण एवं वर्गीकरण हुआ है तथा उनमें से जो आज मिलता है; इसके बारे में संक्षिप्त, किंतु सप्रमाणरीति से इस आलेख में विवरण प्रस्तुत किया गया है। परम्परा के प्रतिबोध एवं उपलब्ध साहित्य के प्रति उत्तरदायित्व का संकेत करता हुआ यह आलेख अवश्य उपयोगी सिद्ध होगा।

—सम्पादक

वर्तमान में धार्मिक ग्रंथों के रूप में आचारशास्त्र के रूप में, नीतिशास्त्र के रूप में, गणितशास्त्र, ज्योतिषग्रंथ, आयुर्वेदग्रंथ, व्याकरणग्रंथ आदि के रूप में तथा प्रथमानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग के रूप में तथा इन चारों अनुयोगों के अन्तर्गत समाविष्ट समस्त ग्रंथों के रूप में जो भी वाङ्मय या साहित्य समुपलब्ध है, वह सब जैनधर्म के अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर की देशना (दिव्यध्वनि) से सम्बद्ध है। तीर्थंकर महावीर की दिव्यध्वनि को अवधारण करनेवाले उनके प्रधान गणधर गौतम इन्द्रभूति ने भगवान की देशना को धारणकर, उसे द्वादशांग और चतुर्दश पूर्व के रूप में प्रतिपादित किया था। द्वादशांगरूप यह सम्पूर्ण वाङ्मय 'द्वादशांग श्रुत' कहलाता है और उस द्वादशांग श्रुत के पारगामी 'श्रुतकेवली' कहलाते हैं।

जिनशासन में ज्ञान के धारकों में दो प्रकार के ज्ञानी महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं— प्रथम प्रत्यक्षज्ञान के धारक और द्वितीय परोक्षज्ञान के धारक। प्रत्यक्षज्ञान के धारकों में 'केवलज्ञानी' का और परोक्षज्ञान के धारकों में 'श्रुतकेवली' का पद महत्त्वपूर्ण होता है। जैनदर्शन में ज्ञान के पाँच भेद प्रतिपादित किये गये हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान। ये पाँचों ज्ञान द्विविध प्रमाण रूप होते हैं। इनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष-प्रमाण रूप तथा अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान प्रत्यक्ष-प्रमाण रूप माने गये हैं।¹

उपर्युक्त पाँचों ज्ञानों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण केवलज्ञान है, जो मोक्ष की प्रतिपादक है। तत्पश्चात् श्रुतज्ञान को महत्त्वपूर्ण माना गया है। केवलज्ञान के धारक 'केवली' या 'केवलज्ञानी' कहलाते हैं। वे समस्त चराचर जगत् को प्रत्यक्ष देखते और जानते हैं। वे तीनों लोकों में स्थित समस्त पदार्थों की समस्त पर्यायों—अवस्थाओं के त्रिकालाबाधित

अविच्छिन्न ज्ञाता और द्रष्टा होते हैं, वे त्रिकालदर्शी हैं और इसीलिये वे 'आप्त' संज्ञा से सम्बोधित किये जाते हैं।

केवलज्ञान के पश्चात् श्रुतज्ञान की महत्ता प्रतिपादित की गई है। श्रुतज्ञान की उपलब्धि तब होती है, जब वह श्रुतज्ञान बाह्य पदार्थों में नहीं जाकर आत्मस्थ होता है। श्रुतज्ञान वस्तुतः आत्मस्वभाव की प्राप्ति के लिए महत्त्वपूर्ण साधना होता है। उस श्रुतज्ञान के माध्यम से जो स्वयं को तपाता है, वह 'केवलज्ञान' प्राप्त कर लेता है। अतः केवलज्ञान वस्तुतः श्रुतज्ञान का फल है, जो सर्वपदार्थ-विषयक होता है। वस्तुतः केवलज्ञान की प्राप्ति में जितना महत्त्व श्रुतज्ञान का है, उतना महत्त्व अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान का नहीं है। जो इसप्रकार के श्रुतज्ञान के धारक होते हैं, वे 'श्रुतकेवली' कहलाते हैं और वे श्रुतकेवली समस्त श्रुत के धारक होने से श्रुत में प्रतिपादित प्रत्येक विषय को स्पष्टतः जानते हैं।

श्रुतकेवली के विषय में श्रीमत् कुन्दकुन्दाचार्य 'समयपाहुड' में लिखते हैं—“जो जीव वस्तुतः श्रुतज्ञान-भावश्रुत से उस अनुभवगोचर केवल एक शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है, उसको लोक के प्रकाशक ऋषिगण 'श्रुतकेवली' कहते हैं।”²

पुनः आगे की गाथा में वे लिखते हैं—“जो जीव सम्पूर्ण श्रुतज्ञान (द्वादशंग रूप द्रव्यश्रुत) को जानता है, उसे जिनेन्द्रदेव 'श्रुतकेवली' कहते हैं। क्योंकि सम्पूर्ण श्रुतज्ञान (द्रव्य श्रुतज्ञान के आधार से उत्पन्न भावश्रुत) आत्मा है, इसीकारण उसके धारण कर्ता 'श्रुतकेवली' होते हैं।”³

'पवयणसार' में भी श्रीमत् कुन्दकुन्दाचार्य ने उपर्युक्त भाव का प्रतिपादन करते हुए कहा है—“जो जीव श्रुत (ज्ञान) से अपनी आत्मा को ज्ञाता स्वभाव से जानता है, उसको लोक के प्रकाशक ऋषिगण 'श्रुतकेवली' कहते हैं।”⁴

'सर्वार्थसिद्धि' में श्री पूज्यपाद स्वामी ने श्रुतज्ञान के दो भेद, अनेक भेद तथा द्वादश भेद बतलाते हुये उसे वक्ता-विशेषकृत कहा है। उनके अनुसार वक्ता तीन प्रकार के हैं—सर्वज्ञ (तीर्थंकर या सामान्यकेवली), श्रुतकेवली और आरातीय। इनमें से परमऋषि सर्वज्ञ उत्कृष्ट और अचिन्त्य केवलज्ञानरूपी विभूति विशेष से युक्त हैं। इसकारण उन्होंने अर्थरूप आगम का उपदेश दिया। ये सर्वज्ञ प्रत्यक्षदर्शी और दोषमुक्त हैं, इसलिये प्रमाण है। इनके साक्षात् शिष्य और बुद्धि के अतिशयरूप ऋद्धि से युक्त गणधर श्रुतकेवलियों ने अर्थरूप आगम का स्मरण कर 'अंग' और 'पूर्व' ग्रंथों की रचना की। सर्वज्ञदेव की प्रमाणता के कारण ये भी प्रमाण हैं तथा आरातीय-आचार्यों ने कालदोष से जिनकी आयु, मति और बल घट गया है, ऐसे शिष्यों के अनुग्रह के लिये 'दशवैकालिक' आदि ग्रंथों की रचना की। वह भी सर्वज्ञ द्वारा ही कथित है, अतः अर्थतः प्रमाण है। जिसप्रकार क्षीरसागर का जल जब घट में भर लिया जाता है, तो वह भी 'क्षीरसागर का ही जल' कहलाता है,

उसीप्रकार सर्वज्ञ द्वारा उपदेशित अर्थरूप आगम का अंश होने से आरातीयों द्वारा कथित या रचित ग्रंथ भी प्रमाण हैं।”⁵

वर्तमान ‘अवसर्पिणी काल’ में भरतक्षेत्र में अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर हुये हैं। तीर्थंकर महावीर के मोक्ष जाने के पश्चात् उनके शासन (जिनशासन) में परम्परित तीन अनुबद्ध केवली और पाँच श्रुतकेवली हुये हैं, जिनमें प्रथम तीन गणधर गौतम स्वामी, सुधर्म स्वामी और जम्बूस्वामी थे तथा अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। उन तक अंगश्रुत अपने मूलरूप में आया। वर्तमान में जो भी श्रुत या आगम उपलब्ध है, वह अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा ही भणित है। वस्तुतः भगवान् जिनेन्द्रदेव जो जानते हैं, वह अनन्त होता है, वे जो कुछ कहते हैं; वह उसका अनन्तवां भाग (जिनवाणी) होता है। इसके पश्चात् जो गणधर उसे ग्रहण करते हैं, वह उसका भी अनन्तवां भाग होता है। इसप्रकार उन केवलियों तक वह अंग श्रुत अपने मूलरूप में आया। उसके बाद बुद्धिबल और धारणा शक्ति के उत्तरोत्तर क्षीण होते जाने से तथा बहुआयामी उस ज्ञान को पुस्तक (ग्रंथाकार) रूप में किये जाने की परम्परा नहीं होने से वह ज्ञान शनैः शनैः क्रमशः क्षीण होता चला गया। इसप्रकार एक ओर जहाँ अंगश्रुत का अभाव होता जा रहा था, वहाँ दूसरी ओर श्रुत परम्परा को अविच्छिन्न बनाये रखने के लिये सतत् प्रयत्न भी होते रहे।

शास्त्रों में श्रुत के दो भेद बतलाये गये हैं— एक ‘अंगश्रुत’ जिसे ‘अंगप्रविष्ट’ भी कहते हैं और दूसरा ‘अनंगश्रुत’ जिसे ‘अनंगप्रविष्ट’ या ‘अंगबाह्य’ भी कहते हैं। ‘जयधवला’ में श्रुतज्ञान के भेद प्रभेदों का विस्तारपूर्वक सांगोपांग विवेचन करते हुए बतलाया गया है। “ज्ञान के पाँच अर्थाधिकार हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। श्रुतज्ञान के दो अर्थाधिकार हैं—अनंगप्रविष्ट और अंगप्रविष्ट। इसमें अंगप्रविष्ट वह है, जो तीनों काल के समस्त द्रव्यों एवं पर्यायों को अंगति अर्थात् प्राप्त होता है या व्याप्त करता है अथवा समस्त श्रुत के एक-एक आचारादि रूप अवयव ‘अंग’ कहलाते हैं। इसप्रकार आचारादि द्वादशविध ज्ञान ‘अंगप्रविष्ट’ कहलाता है। ‘राजवार्तिक’ (1/20/12-13) के अनुसार भी “आचारादि-द्वादशविधमंगप्रविष्टमित्युच्यते।”

गणधरदेव के शिष्य-प्रशिष्यों और अल्पायु-बुद्धि-बलवाले मनुष्यों के अनुग्रहार्थ उपर्युक्त अंगों के आधार पर संक्षेपरूप में रचित लघुकाय-ग्रंथ ‘अंगबाह्य’ के अन्तर्गत आते हैं। अंगबाह्य या अनंगश्रुत के चतुर्दश भेद हैं। यथा—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प व्यवहार, कल्प्याकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका।⁶ ‘सर्वार्थसिद्धि’ में इनमें से केवल ‘उत्तराध्ययन’ और ‘दशवैकालिक’ का ही उल्लेख किया गया है और शेष का समावेश आदि शब्द के अन्तर्गत कर लिया गया।

‘धवला’ टीका के आधार से ज्ञात होता है कि इनकी रचना भी गणधरों ने की थी,

और अंगश्रुत के अस्तित्व काल में ये विद्यमान थे। किन्तु काल के प्रभाव से जिसप्रकार अंगश्रुत को धारण करनेवाले श्रमणों की धी-धृति-स्मृति और धारण करने की शक्ति क्रमशः क्षीण होती जाने से अंगश्रुत का अभाव हो गया; उसीप्रकार अंगबाह्य (अनंगश्रुत) को धारण करनेवाले मुनियों — श्रमणों का क्रमशः अभाव हो जाने से अंगबाह्य श्रुत से संबंधित ग्रंथों का भी अभाव होता गया। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि एकप्रकार से हम मूलश्रुत से ही सर्वथा वंचित हो गये।

‘जयधवला’ में प्रतिपादित विवरण के अनुसार अंगप्रविष्ट श्रुत के बारह अर्थाधिकार हैं। यथा—आचारंग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तःकदशांग, अनुत्तरौपपादिक-दशांग, प्रश्न-व्याकरणांग, विपाकसूत्र और दृष्टिवादांग।⁷ ‘सर्वार्थसिद्धि’ में भी अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञान के उपर्युक्त बारह भेद प्रतिपादित किये गये हैं।⁸

इनमें बारहवां जो ‘दृष्टिवादांग’ है, उसके पाँच भेद बतलाये गये हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। ‘परिकर्म’ में पाँच अर्थाधिकार हैं—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूदीप-प्रज्ञप्ति, द्वीपसागर-प्रज्ञप्ति और व्याख्या-प्रज्ञप्ति। सूत्रशः से अठासी अर्थाधिकार हैं, परन्तु उन अर्थाधिकारों का नामोल्लेख या वर्णन उपलब्ध नहीं होने से तद्विषयक जानकारी नहीं है। वर्तमान में उनके विषय में कोई उपदेश भी नहीं पाया जाता है। ‘प्रथमानुयोग’ में चौबीस अर्थाधिकार हैं, क्योंकि चौबीस तीर्थकरों के पुराणों में सभी पुराणों का अन्तर्भाव हो जाता है। ‘चूलिका’ में पाँच अर्थाधिकार हैं—जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता। ‘पूर्वगत’ के चौदह अर्थाधिकार हैं—उत्पादपूर्व, अग्रायणीपूर्व, वीर्यानुप्रवादपूर्व, अस्तिनस्तिप्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवादपूर्व, सत्यप्रवादपूर्व, आत्मप्रवादपूर्व, कर्मप्रवादपूर्व, प्रत्याख्यानप्रवादपूर्व, विद्यानुप्रवादपूर्व, कल्याणप्रवादपूर्व, प्राणावायुप्रवादपूर्व, क्रियाविशालपूर्व और लोकबिन्दुसारपूर्व।⁹

इनमें ‘उत्पादपूर्व’ के दस, ‘अग्रायणीपूर्व’ के चौदह, ‘वीर्यानुप्रवादपूर्व’ के आठ, ‘अस्तिनस्तिवादपूर्व’ के अट्ठारह, ‘ज्ञानप्रवादपूर्व’ के बारह, ‘सत्यप्रवादपूर्व’ के बारह, ‘आत्मप्रवादपूर्व’ के सोलह, ‘कर्मप्रवादपूर्व’ के बीस, ‘प्रत्याख्यानप्रवादपूर्व’ के तीस, ‘विद्यानुप्रवादपूर्व’ के पन्द्रह, ‘कल्याण प्रवादपूर्व’ के दस, ‘प्राणावायुप्रवादपूर्व’ के दस, ‘क्रियाविशालपूर्व’ के दस और ‘लोकबिन्दुसार प्रवादपूर्व’ के दस अर्थाधिकार हैं, जिनका नाम ‘प्राभृत’ या ‘पाहुड’ है। उन ‘प्राभृत’ संज्ञा वाले अर्थाधिकारों में से प्रत्येक अर्थाधिकार के चौबीस अनुयोगद्वार हैं। इसका विवरण ‘जयधवला’ में मिलता है।

उपर्युक्त विवरण में द्वादशांग श्रुत की विवक्षा की गई है। इस विवक्षा के अन्तर्गत द्वादशांग श्रुत के भेद-प्रभेदों को देखने से श्रुत की विशालता का आभास सहज ही हो जाता है। कालप्रभाववश, परिस्थितिवश अथवा किन्हीं अन्य कारणों से आज हम मूल अंगश्रुत से वंचित हैं। यद्यपि यह कहना उचित नहीं है कि उत्तरकाल में द्वादशांग श्रुत

का धारणकर्ता एवं प्रवक्ता कोई था ही नहीं, क्योंकि अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु से परम्परित आगम (ज्ञान) को समकालीन और उत्तरकालीन आचार्यों ने ग्रहण कर उसे कालान्तर में लिपिबद्ध किया। यद्यपि श्रुतकेवली भद्रबाहु के काल में ही जैन-परम्परा दो भागों में विभाजित हो गई थी। पहली परम्परा वह थी, जो तीर्थंकर महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों द्वारा आचरित एवं प्रतिपादित आचार को बिना किसी संशोधन एवं शिथिलता के ग्राह्य कर उसी का अनुसंरण करती, रही उसे 'दिगम्बर-परम्परा' या 'मूलसंघ' के नाम से जाना जाता रहा। द्वितीय वह परम्परा विकसित हुई, जिसने परिस्थितिबद्ध मूल आचार में यथावश्यक संशोधन कर उसमें नवीन व्यवस्थाओं का समावेश किया। यह परम्परा 'श्वेताम्बर परम्परा' के नाम से ख्यापित हुई। परिणामस्वरूप मूल 'अंगश्रुत' और 'अनंगश्रुत' को लिपिबद्ध करने और उसका संरक्षण करने में व्यवधान उपस्थित हुआ।

तथापित कालान्तर में कतिपय ऐसे आचार्य हुए, जिन्होंने अंगश्रुत के आश्रय से श्रुत की रक्षा करने का प्रयत्न किया। उसी प्रयत्न का सुपरिणाम है कि 'छक्खंडागम' और 'कसायपाहुड' जैसे ग्रंथों की रचना हुई और आज वे हमारे समक्ष विद्यमान हैं। आचार्य कुन्दकुन्द जैसे प्रखर तत्त्ववेत्ता और मनीषी लगभग उसी समय के दिगम्बर जैनाचार्य हैं, जिन्होंने 'समयपाहुड' सहित चौरासीपाहुड की रचना की। उन्हें अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु से परम्परित आगम का ज्ञान था, जिसका आभास समयपाहुड की निम्न गाथा से मिलता है—

'वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवली-भणिदं ।'

इसप्रकार आरातीय आचार्यों द्वारा मूलश्रुत (आगम) के अनुरूप प्रथमानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग पर आधारित ऐसे अनेक ग्रंथों की रचना की गई, जो हमें जैनधर्म की गहराइयों में ले जाकर उसके गूढ़ तत्त्वों एवं रहस्यों का ज्ञान कराकर मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करते हैं। यद्यपि श्रुतज्ञान के आधार पर रचित ग्रंथों की संख्या प्रचुर एवं विशाल है, तथापि द्वादशांग श्रुत की अपेक्षा वह अत्यल्प और नगण्य है। संक्षेप में यदि श्रुताधारित ग्रंथों का आंकलन किया जाय, तो विक्रम की प्रथम पूर्व विक्रम की प्रथम शताब्दी में रचित ग्रंथों को इस श्रेणी में परिगणित किया जा सकता है। इसमें सर्वप्रथम आचार्य पुष्पदन्त एवं भूतबलि द्वारा रचित 'छक्खंडागम' और इनके ही समकालीन आचार्य गुणधर द्वारा रचित 'कसायपाहुड' को परिगणित किया जा सकता है।

इनके कुछ काल बाद ही आचार्य यतिवृषभकृत 'कषायप्राभृत-चूर्णि' की रचना हुई। विक्रमपूर्व प्रथम शताब्दी के ही उद्भट् मनीषी श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित समयपाहुड, पवयणसार, पंचथिकायसंगहो एवं अष्टपाहुड आदि ग्रंथ मिलते हैं। इनके समकालीन ही आचार्य वट्टकेर हुए जिन्होंने 'मूलाचार' (आचारांग) नामक ग्रंथ की रचना कर परम्परित आगम ज्ञान की रक्षा की। आचार्य शिवार्य द्वारा रचित 'मूलाराधना' नामक ग्रंथ

भी इसी परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इसी क्रम में श्री गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वामी द्वारा रचित 'तत्त्वार्थसूत्र' नामक ग्रंथ लघुकाय होते हुये भी इतना महत्त्वपूर्ण है कि अनेक ज्ञान-पिपासु मुमुक्षु श्रावक सतत इसका स्वाध्याय और अध्ययन करते हैं।

ये कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं, जो मूलागम (श्रुत) का आधार लिए हुए हैं। अतः उनके अंश या अंग के रूप में स्वीकार्य हैं। इनके पश्चाद्दर्ती अनेक आचार्यों, विद्वानों ने विभिन्न आध्यात्मिक एवं लौकिक विषयों पर आधारित अनेक विशालकाय ग्रंथों की रचना की है, जो जिनवाणी के रूप में हमारे लिये शिरोधार्य हैं। इसप्रकार अनतिसंक्षेप-विस्तरेण जिनागम के विषय में प्रस्तुत विवक्षा है।



संदर्भग्रंथ सूची

1. 'मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।' —(तत्त्वार्थसूत्र)
'आद्ये परोक्षम्', 'प्रत्यक्षमन्यत्' । —(तत्त्वार्थसूत्र)
2. जो हि सुदेणाहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।
तं सुदकेवलमिसिणो भणति लोगप्पदीवयरा ।। —(समयपाहुड, 9)
3. जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलं तमाहु जिणा ।
सुदणाणमाद सव्वं जह्मा सुदकेवली तम्हा । —(समयपाहुड, 10)
4. जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण ।
तं सुदकेवलमिसिणो भणति लोगप्पदीवयरा ।। —(प्रवचनसार, ज्ञानाधिकार, 33)
5. किं कृतोऽयं विशेषः? वक्तृविशेषकृतः । त्रयो वक्तारः सर्वज्ञस्तीर्थकर इतरो वा श्रुतकेवली आरातीयश्चेति । तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा परमाचिन्त्यकेवलज्ञानविभूतिविशेषण अर्थतः आगम उद्दिष्टः । तत्त्वप्रत्यक्षदर्शत्वात् प्रक्षीणदोषत्वाच्च प्रामाण्यम् । तस्य साक्षाच्छिष्यैर्बुद्ध्यति-शयर्द्धियुक्तैर्गणधरैः श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रंथरचनमंगपूर्वलक्षणं तत्प्रामाण्यम्; तत्प्रामाण्यात् । आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषात्संक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धम् । तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति क्षीणार्णवजल घटगृहीतमिव ।
—(सर्वार्थसिद्धि, प्रथमोऽध्याय, 211)
6. तं जहा णाणस्स पंच अत्थाहियारा—मइणाणं सुदणाणं ओहिणाणं मणपज्जवणाणं केवलणाणं चेदि । सुदणाणे दुवे अत्थाहियारा—अणंगपविट्ठमंगपविट्ठं चेदि । अणंगपविट्ठस्स चोद्वस्स अत्थाहियारा—सामाइयं, चऊवीसत्थो, वेदणा, पडिक्कमणं, वेणइयं, किदियम्मं, दसवेयालिया, उत्तरज्जयणं कप्पववहारो, कप्पाकप्पियं, पुण्डरीगं महापुण्डरीगं, णिसीहियं चेदि ।
—(जयधवला सहित 'कसायपाहुड', भाग 1, गाथा 2/213)
7. जयधवला सहित 'कसायपाहुड', भाग 1, गाथा 1/113 ।
8. वही, गाथा 1/115 ।
9. वही, गाथा 1/116 ।



आचार्य विद्यानन्द जी की सामाजिक चेतना

—डॉ० (श्रीमती) माया जैन

भारतीय संस्कृति अध्यात्म-प्रधान संस्कृति है। इस संस्कृति में साधना, तपश्चर्या आदि के बल पर जहाँ आत्मकल्याण की बात कही गई, वहीं दूसरी ओर भटके हुए समाज को एक ऐसी दृष्टि प्रदान की गई, जो समग्र जीवन का स्वच्छ दर्पण है। जैन सन्तों की चिन्तनशील अभिव्यक्ति एवं साधना ने सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् की विराट् अभिव्यक्ति प्रदान की। इस पृथ्वी पर दिगम्बर वेषधारी आचार्य एवं मुनि अनेक हुये हैं, हो रहे हैं और होते रहेंगे। ये सभी चलते-फिरते तीर्थ हैं, जिनके द्वारा जैनधर्म को अक्षुण्ण बनाया गया और समाज के लिए इन्हीं ने आत्मकल्याण और लोककल्याण की भावना प्रदान की है। इनके जनजागरण की विचारधारा ने धार्मिक, सांस्कृतिक और पारंपरिक धारणाओं की जटिलता को हटाकर अत्यंत सरल सहज और सौम्य बनाया। जैन सन्तों ने जीवन और जगत् —दोनों के विषय में पर्याप्त प्रकाश डाला। उनकी विचारधारा ने सम्पूर्ण समाज को त्याग की उदार भावना दी और अहिंसामय जीवन जीने की कला भी बतलाई। ऐसे जैन संस्कृति के अनेक दैदीप्यमान सूर्य हुए हैं, उनमें आचार्य विद्यानन्द अपने चिन्तन से राष्ट्र को विश्वबन्धुत्व की भावना प्रदान कर रहे हैं।

आचार्य विद्यानन्द जी का विराट् व्यक्तित्व:— जिस संत ने स्वातन्त्र्यपूर्व भारत की स्थिति को देखा और डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, डॉ० राधाकृष्णन, डॉ० जाकिर हुसैन, वी०वी० गिरि, ज्ञानी जैलसिंह, शंकर दयाल शर्मा, के०आर० नारायणन आदि राष्ट्रपति तथा पंडित नेहरू, शास्त्री जी, इंदिरा गांधी, मुरार जी देसाई, चन्द्रशेखर, वी०पी० सिंह, राजीव गांधी, अटल बिहारी वाजपेई, इन्द्र कुमार गुजराल, नरसिंह राव आदि राष्ट्र के प्रधानमंत्री भी जिनके व्यक्तित्व से प्रभावित थे। जिनकी विचारधारा ने राष्ट्र के हित के लिए बहुत कुछ कहा, बहुत कुछ समझाया तथा जिन्होंने समय की शिला पर समाज की तस्वीर तराशने का श्रमसाध्य कार्य किया। उनके आकार-प्रकार आदि का छायांकन करना कठिन है। जिनकी विचारधारा में अनुभवों का खजाना है, अनुशासन की क्रमबद्धता है। अहिंसा का सर्वोत्कृष्ट शिष्टाचार है। जिनकी गूंज में दया, क्षमा, सहिष्णुता, पवित्रता, मृदुता, नम्रता आदि तो व्याप्त हैं ही; साथ ही उनके जीवन का

एकमात्र लक्ष्य विद्या की उपासना है।

उन्होंने वेदों की गहराई को, ईसा की अनुभूतियों को समझा, कुरान-शरीफ की इबादतों को पढ़ा, नानक की गहराई को पहिचाना, पाश्चात्य विचारकों के चिन्तन को समझा; तब जाकर उन्होंने कहा कि “समाज सदगुणों का समूह है।” शिष्टाचार का जहाँ सम्मान है, वहाँ आत्मशुद्धि है, उच्च-आदर्श है। भारतीय शिष्टाचार में उच्च-आदर्श और उच्च-क्रियायें हैं। चाहे रास्ता चलते हों, या अन्य कहीं भी हों। शालीनता उनके साथ रहती है।

आचार्य विद्यानन्द जी के समाज में आचार-विचार और गुणों की जहाँ प्रधानता है, वहीं बहुमुखी योग्यताओं का मूल्यांकन है। वे वर्ग भेद से परे ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जिसमें चहुँमुखी प्रतिभा हो, समाज-संरचना के लिए ज्ञानगुण पर आधारित क्रिया हो। वे श्रम और गुण—दोनों की बुनियाद को लेकर संतोष, समत्व, मैत्री और सहयोग पर बल देना चाहते हैं। उनके लम्बे जीवन की यात्रा का मूलमंत्र आत्मानुशासन है। बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय का राजमार्ग है। आचार्य विद्यानन्द शुद्ध मनीषा और निर्मल आचार को महत्त्व दे रहे हैं। वे कहते हैं “आर्यों के शरीर में दूध नहीं भरा है, और म्लेच्छों के शरीर में कोई कीच नहीं है। सबके रुधिर का रंग लाल है। जो इतनी स्वच्छता से सोचता है, वह धार्मिक है; और जो भेदभाव की संकीर्णता में लिप्त है, वह साम्प्रदायिक है।”¹

आवश्यकताओं के साथ समृज्जत मार्गः— आचार्य विद्यानन्द ने लोकजीवन को समझा। उन्होंने अन्तर और बाह्य दोनों ही रूपों की पवित्रता को परखा और दोनों को ही ऊँचाई पर जाकर अपनी विमल वाणी से जनजीवन में एक क्रान्ति उपस्थित की। उन्होंने धर्माधता, अंधानुकरण आदि से दूर होकर जो कुछ भी कार्य किया, वह अत्यंत ही उदार एवं स्मरणीय बना। उन्होंने भगवान् महावीर के 2500वें निर्वाण-महोत्सव को मनाने के लिए जो शंखनाद किया, उससे सम्पूर्ण विश्व में महावीर के सिद्धान्तों की दृष्टि फैली। उनका यह एक ऐसा प्रयास भी था जो एकता के सूत्र में बाँधने के लिए सर्वोपरि माना गया, वह था विश्वधर्म के समस्त धार्मिक नेताओं को एक मंच पर लाना। और भी उत्तम प्रयास हुआ ‘समणसुत’ नामक ग्रन्थ प्रणयन का, जिसमें आचार्य विनोबा भावे जैसे आदर्श सर्वोदयी नेता की सहभागिता प्राप्त हुई।

आचार्य विद्यानन्द ने महामस्तकाभिषेक की क्रियान्विति की अर्थात् दक्षिण के श्रवणबेलगोल-स्थित गोम्मटेश बाहुबली की 58 फुट की प्रतिमा के अभिषेक का मंगलमय कार्य हुआ। मध्यप्रदेश के बड़वानी बावनगजा एवं अन्य स्थानों पर अपनी सांस्कृतिक चेतना से समाज को मूर्तिकला, स्थापत्यकला, वास्तुकला आदि को सुरक्षित करने का निर्देश दिया। उन्होंने इन्दौर के पास एक पहाड़ी पर गोम्मटगिरि जैसे सार्वभौमिक,

सात्त्विक एवं नैतिक गुणों को बल देने वाले स्थान को विकसित करवाया। दक्षिण के भाग में जैनविद्या को गाँव-गाँव तक फैलाने का प्रयास किया। जहाँ रात्रि पाठशालायें खोली गईं, वहीं दूसरी ओर जीवनरक्षक मेडिकल कॉलेज, विज्ञान-संवर्धक इंजीनियरिंग कॉलेज तथा प्राकृतभाषा एवं साहित्य के संरक्षण के लिए विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम चालू करवाये गये। और उन्होंने सम्राट् खारवेल के उत्कीर्ण शिलालेख का अवलोकन जो जैन-संस्कृति की गौरवमयी भाषा शौरसेनी का प्रतिनिधित्व करती हैं।

आचार्य विद्यानन्द का विद्यानुरागः— साधना ही जिनका जीवन है, वे जीवनदर्शन, साहित्यदर्शन, कर्मदर्शन, सेवादर्शन और आत्मदर्शन आदि की विशाल निधियों से युक्त होते हैं। पर वे ही आचार्य या मुनि प्राचीनतम भाषा और संस्कृति दोनों की ही प्रयोगशाला में बैठकर जब आध्यात्मिक रसास्वादन करते हैं, तब उनके व्यक्तित्व के विविध पहलू ऐसा कार्य भी करते हैं; जो समाज, देश और विश्व के लिए उत्तम सीख बन जाती है। आचार्य विद्यानन्द के बहुआयामी व्यक्तित्व ने 'शौरसेनी प्राकृत' के रहस्य को समझा और उसकी गहराई में प्रवेश करने के लिए भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद और सामवेद, भरतमुनि के नाट्यशास्त्र, कवि हर्ष, कवि कालिदास, माघ, शूद्रक आदि की प्राकृत-रचनाओं के अतिरिक्त समग्र प्राकृत जैन-साहित्य के भाषा-प्रांगण को नाप डाला। उनके वर्ण-विनोद में अर्थ की गहराई को खोजने का कार्य किया। जिसके परिणामस्वरूप शौरसेनी प्राकृत की प्राचीनता मान्य हुई। उसके अवगाह से जहाँ स्वयं ने इसको गति प्रदान की, वहीं आध्यात्मिक क्षेत्र में पाठकों को बाध्य किया कि शौरसेनी न केवल साहित्य की दृष्टि से प्राचीन है; अपितु अभिलेखी दृष्टि से भी वह प्राचीन है। और तीर्थंकर नेमिकुमार से प्रचलित सूरसेन अर्थात् मथुरा के आसपास की भाषा शौरसेनी है। यह प्रमाणित भी है और सत्य भी है। विद्वानों के लेखों एवं विचारों से भी यह पुष्ट है। आचार्यश्री के इसी केन्द्रबिन्दु को ध्यान में रखकर प्राकृत भवन, प्राकृतविद्या पत्रिका, कुन्दकुन्द भारती संस्थान एवं प्राकृत के मनीषी विद्वानों के कार्य की प्रशंसा हेतु पुरस्कार आदि सराहनीय कार्य प्रवर्तित हुए हैं। आचार्य का यही प्रयत्न नहीं है, अपितु आचरणात्मक नैतिक मूल्यों की स्थापना के लिए दिल्ली में प्राकृत के विविध पाठ्यक्रम भी चलाने के लिए समाज को आगे किया और उन्हीं के प्रयत्नों से लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, (मानित विश्वविद्यालय) में 'शास्त्री' और 'आचार्य' अर्थात् बी०ए०, एम०ए० तथा 'विद्यावारिधि' (पीएच०डी०) की उपाधि तक के प्रयास हमारी प्राचीन प्राकृतविद्या को गतिमान बनाने में सहायक हैं और आगे भी रहेंगे।

सच पूछा जाये तो आचार्य विद्यानन्द की लगभग 75 वर्ष की यात्रा समकालीन समाज को जो अवदान प्रदान करती रही है या कर रही है; वह हृदय की सच्ची और निश्चल भावना से समादरणीय है।



आचार्यश्री विद्यानंद वन्दनाष्टक

—विद्यावारिधि डॉ० महेन्द्र सागर प्रचंडिया

धन्य धन्य प्रज्ञापुरुष, जिये पचहत्तर वर्ष ।
तुम्हें देखकर हो रहा, भीतर-बाहर हर्ष ॥ 1 ॥

अपनाया तुमने सहज, जग-जीवन का सार ।
त्याग दिया पल में सभी, देह-भोग-संसार ॥ 2 ॥

व्रत का अमृत पानकर, पाला संयम-रूप ।
द्वादश तप के तेज से, निखरा रूप-अनूप ॥ 3 ॥

ज्ञान और श्रद्धान से, जगा विवेक विशेष ।
लखा आपने आपको, जागा अन्तर्देश ॥ 4 ॥

'अनेकान्त' लेकर किया, 'स्याद्वाद'-संताप ।
शान्त हुये पल में सभी, वैचारिक संताप ॥ 5 ॥

सत्य-अहिंसा के दिये, जीवनभर उपदेश ।
समता औ' सम्यक्त्व का, दिया विश्व-सदेश ॥ 6 ॥

शौरसेनि भाषा हुई, प्राकृत की शिरमौर ।
आगम की भाषा बनी, हुई ख्याति चहुँ ओर ॥ 7 ॥

अपनाकर सल्लेखना, किया अनूठा काम ।
चले मांगलिक मार्ग पर, क्षय करने कर्म तमाम ॥ 8 ॥ ❖❖

जैनों की बाइबिल

'द्रव्यसंग्रह' और 'तत्त्वार्थसूत्र' को वे (ब्र० शीतल प्रसाद जी) 'जैनों की बाइबिल' समझते थे। जहाँ जाते, योग्य छात्रों को पढ़ाते। इन ग्रंथों का अधिक-से-अधिक प्रचार करते।
—(साभार उद्धृत, 'जैन जागरण के अग्रदूत', पृष्ठ 83) **

णक्खत्त-वण्णणं

जैनसंघ में अनेक विषयों के विशेषज्ञ श्रमण हुआ करते थे। मूल संघपति आचार्य के अतिरिक्त ये सभी निर्यापकाचार्य, प्रवर्तकाचार्य आदि 'आचार्यान्त' पदवीधारी श्रमण वस्तुतः 'उपाध्याय परमेष्ठी' के अन्तर्गत परिगणित होते थे। ऐसे ही एक प्रमुख श्रमण को 'सांवत्सरिक क्षपणक' कहा जाता था। ये जैनविधि से ज्योतिषशास्त्र के पारंगत होते थे। इनसे परामर्श करके ही संघपति संघ के विहार, चातुर्मास-स्थापना आदि के निर्णय लिया करते थे; ताकि संघ दुर्भिक्ष, अराजकता, महामारी आदि अनेकविध विपदाओं से सुरक्षित रहकर निर्विघ्नरूप से धर्मसाधना कर सके। संभवतः इसीकारण से श्रमणमुनियों के विचरण को सुभिक्षसूचक एवं मंगल माना जाता रहा है।

यहाँ पर 'सांवत्सरिक-क्षपणक' के मतानुसार 'किस नक्षत्र में सल्लेखना लेने पर मुनि किस नक्षत्र में किस समय पर देहत्याग करते हैं' —इसका महत्वपूर्ण दिशानिर्देश किया गया है। इसकी विशद जानकारी आज के श्रमणों को भी अनिवार्यतः अपेक्षित है। आशा है यह मूलानुगामी विवरण मागदर्शक सिद्ध होगा।

—सम्पादक

तं जघा । अस्सिणी-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, तो सादि-णक्खत्ते रत्ते कालं ।। 1 ।।

भरणि-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, तो रेवदि-णक्खत्ते पच्चूसे मरदि ।। 2 ।।

कित्तिग-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, उत्तरफागुणि-णक्खत्ते मज्झण्हे मरदि ।। 3 ।।

रोहिणी-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, तो सवण-णक्खत्ते अब्बरत्ते मरदि ।। 4 ।।

मियसिर-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, तो पुव्वफग्गुण-णक्खत्ते मरदि ।। 5 ।।

अद्दा-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, तो उत्तरदिवसे मरदि ।

जदि ण मरदि तदा तह्मि पुरोगदे णक्खत्ते मरिस्सदि ।। 6 ।।

पुणवसु-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, तदा अस्सणि-णक्खत्ते अवरण्हे मरदि ।। 7 ।।

पुस्स-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, तो मियसिर-णक्खत्ते मरदि ।। 8 ।।

असलिस-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, तो चित्त-णक्खत्ते मरदि ।। 9 ।।

मघ-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, तो तद्विवसे मरदि; जदि ण मरदि तदा तह्मि पुरोगदे णक्खत्ते मरदि ।। 10 ।।

पुव्वफग्गुणि-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, तो घणिट्ठा-णक्खत्ते दिवसे मरदि ।। 11 ।।

उत्तरफग्गुणि-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, तो मूल-णक्खत्ते पयोसे मरदि ।। 12 ।।

हृत्थ-णक्ख ते जदि संथारं गिण्हदि, तो भरणि-णक्खत्ते दिवसे मरदि ।। 13 ।।
 चित्ता-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, तो मियसिर-णक्खत्ते अद्धरत्ते मरदि ।। 14 ।।
 सादि-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, तो रेवदि-णक्खत्ते प भादे मरदि ।। 15 ।।
 विसाह-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, तो असिलेसा-णक्खत्ते मरदि ।। 16 ।।
 असिलेसा-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, तो पुव्वभद्द-णक्खत्ते दिवसे मरदि ।। 17 ।।
 मूल-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, तो जेट्ठ-णक्खत्ते पमादवेलाए मरदि ।। 18 ।।
 पुव्वासाढ-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, तो मियसिर-णक्खत्ते पदोसवेलाए मरदि ।। 19 ।।
 उत्तरासाढ-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, तो तद्विवसे चेव; अहवा भद्दपदणक्खत्ते
 अवरण्हे मरदि ।। 20 ।।
 सवण-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, तो उत्तरभद्द-णक्खत्ते तद्विवसे कालं करेदि ।। 21 ।।
 घणिट्ठा-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, तो तद्विवसे कालं करेदि; जदि तद्विवसे कालं
 ण करेदि, तो पुण तद्विवसे चेव आगदे मरदि ।। 22 ।।
 सदभिस-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, जेट्ठा-णक्खत्ते अत्थवणवेलाए मरदि ।। 23 ।।
 पुव्वभद्दपद-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, तो पुण्णवसु-णक्खत्ते रत्तिं मरदि ।। 24 ।।
 उत्तरभद्दपदे णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, तो दिवसे वहमाणे वा पुणरादि वा मरदि ।। 25 ।।
 रेवति-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, तो मघ-णक्खत्ते मरदि ।। 26 ।।
 मूल-णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि, तो जेट्ठ-णक्खत्ते मरदि ।। 27 ।।

नक्षत्र-फलों का वर्णन

‘अश्विनी-नक्षत्र’ के समय क्षपक ने संस्तर ग्रहण किया, तो ‘स्वाति-नक्षत्र’ के समय रात में उसको समाधिमरण प्राप्त होगा ।। 1 ।।

‘भरणि-नक्षत्र’ के समय क्षपक ने समाधिमरण के लिये संस्तर का आश्रय किया, तो ‘रेवती-नक्षत्र’ के समय दिन के प्रारम्भ में उसको समाधिमरण प्राप्त होगा ।। 2 ।।

‘कृतिका नक्षत्र’ के समय यदि मुनि बिछौने पर शयन करेंगे, तो ‘उत्तरफाल्गुनी-नक्षत्र’ पर मध्याह्न काल में उसका मरण होगा ।। 3 ।।

‘रोहिणी-नक्षत्र’ पर संस्तर ग्रहण करनेवाले मुनियों का ‘श्रवण-नक्षत्र’ में आधी रात के समय मरण होगा ।। 4 ।।

‘मृगशिर-नक्षत्र’ पर सल्लेखना का आश्रय लेने से ‘पूर्वफाल्गुनी-नक्षत्र’ पर मुनि का देहान्त होगा ।। 5 ।।

‘आर्द्रा-नक्षत्र’ में यदि संस्तर किया, तो दूसरे दिन मरण होगा। यदि न हुआ, तो आगे के नक्षत्र में उसकी मृत्यु होगी। अथवा पुनः वही ‘आर्द्रा-नक्षत्र’ आने पर मृत्यु होगी ।। 6 ।।

‘पुनर्वसु-नक्षत्र’ पर बिछौना ग्रहण किया, तो ‘अश्विनी-नक्षत्र’ पर अपराह्नकाल

में मरण होगा ॥ 7 ॥

‘पुष्य-नक्षत्र’ पर शय्या-ग्रहण करने से ‘मृगशिर-नक्षत्र’ पर मरण होगा ॥ 8 ॥

‘आश्लेषा-नक्षत्र’ के समय शय्या स्वीकार करने से चित्रा-नक्षत्र’ पर मरण होगा ॥ 9 ॥

‘मघा-नक्षत्र’ के समय शय्या स्वीकार करने से उसी दिन मरण होगा अथवा आगे उसी नक्षत्र के आने पर मरण होगा ॥ 10 ॥

‘पूर्वाफाल्गुनी-नक्षत्र’ में यदि सन्यास ग्रहण के लिये शय्या का आश्रय करे, तो घनिष्ठा-नक्षत्र के समय दिन में मरण होगा ॥ 11 ॥

‘उत्तराफाल्गुनी-नक्षत्र’ में शय्या-ग्रहण की तो ‘मूल-नक्षत्र’ पर सायंकाल में मरण होगा ॥ 12 ॥

‘हस्त-नक्षत्र’ पर यदि सन्यास लिया, तो ‘भरणी-नक्षत्र’ पर दिन में मरण होगा ॥ 13 ॥

‘चित्रा-नक्षत्र’ में सन्यास-ग्रहण करने पर ‘मृगशिर-नक्षत्र’ पर आधी रात में मरण होगा ॥ 14 ॥

‘स्वाति-नक्षत्र’ पर शय्या ग्रहण करे, तो ‘रेवती-नक्षत्र’ के समय प्रभातकाल में मरण होगा ॥ 15 ॥

‘विशाखा-नक्षत्र’ पर शय्या-ग्रहण करने से ‘आश्लेषा-नक्षत्र’ पर मरण होता है ॥ 16 ॥

‘अनुराधा-नक्षत्र’ पर शय्या-धारण करने से ‘पूर्वाभाद्रपद-नक्षत्र’ में दिन में मरण होगा ॥ 17 ॥

‘मूल-नक्षत्र’ पर शय्या-ग्रहण करने से ‘ज्येष्ठा-नक्षत्र’ पर प्रभातकाल में मरण होगा ॥ 18 ॥

‘पूर्वाषाढा-नक्षत्र’ में शय्या का आश्रय करने से ‘मृगशिर-नक्षत्र’ पर रात के प्रारम्भ के समय में मरण होगा ॥ 19 ॥

‘उत्तराषाढा-नक्षत्र’ पर सन्यास-धारण करने से उसी दिन या ‘भाद्रपद-नक्षत्र’ में अपराह्नकाल में मरण होगा ॥ 20 ॥

‘श्रवण-नक्षत्र’ में शय्या-ग्रहण की जाय, तो ‘उत्तराभाद्रपद-नक्षत्र’ में दिन में मरण होगा ॥ 21 ॥

‘घनिष्ठा-नक्षत्र’ पर शय्या ग्रहण करें, तो उसी दिन या आगे उसी नक्षत्र के आने पर मरण होगा ॥ 22 ॥

‘शतभिषु-नक्षत्र’ पर सन्यास-धारण करे, तो ‘ज्येष्ठा-नक्षत्र’ पर सूर्यास्त के समय मरण होगा ॥ 23 ॥

‘पूर्वाभाद्रपद-नक्षत्र’ में यदि सन्यास-ग्रहण करेगा, तो ‘पुनर्वसु-नक्षत्र’ पर रात में मरण करेगा ॥ 24 ॥

‘उत्तराभाद्रपद-नक्षत्र’ में शय्या ग्रहण करेगा, तो उसी दिन में या रात्रि में मरण करेगा ॥ 25 ॥

रेवती-नक्षत्र' पर संस्तर-धारक क्षपक का 'मघा-नक्षत्र' पर मरण होगा ।। 26 ।।

'मूल-नक्षत्र' में संस्तर लेवें, तो 'ज्येष्ठा-नक्षत्र' में प्रातः मरण होगा ।। 27 ।।

इनका विचार करके श्रमण शांतभाव से उचित नक्षत्र, काल, बेला आदि का निर्णय, शरीर की स्थिति आदि का निर्णय करके अनाकुलभाव से मृत्यु-महोत्सव को सफल बना सकते हैं ।



सुभाषचन्द्र बोस और हिटलर

29 मई, 1942 को नेताजी सुभाषचन्द्र बोस एक खास हवाई जहाज से बर्लिन से रास्टेनबर्ग के लिए रवाना हुए । वहाँ निकट ही एक फौजी छावनी में उन दिनों जर्मन नेता हिटलर का निवास था । विदेशमन्त्री हेरवॉन रिब्रेनटॉप ने हवाई अड्डे पर नेताजी का स्वागत किया । हिटलर के खास दूत प्रोफेसर मार्टिन बोरमन ने नेताजी से कहा—'मिस्टर बोस, तिलक के 'गीतारहस्य' के लेटेस्ट एडिसन (नवीनतम आवृत्ति) की कोई प्रति है आपके पास?' नेताजी आश्चर्य से स्तब्ध होकर देखने लगे । प्रोफेसर बोरमन मुस्कराते हुए बोले—'मिस्टर बोस ! मैं अभी भी म्यूनिख युनिवर्सिटी में पढ़ाता हूँ । कालिदास, भवभूति आदि की रचनायें मेरे घर में हैं । लोकमान्य तिलक का मुझे विशेष आकर्षण है ।' नेताजी ने कहा—'मेरी छाती गर्व से फूली जा रही है कि हमारी संस्कृति को जाननेवाले प्रकाण्ड पंडित महान नेता हिटलर की अंतरंग मंडली में भी हैं ।'

बात छोटी, बड़े विचार

बापू के 'सेवाग्राम आश्रम' में आभा गाँधी का विवाह था । सरोजनी नायडू ने बापू से पूछा—'बापू, आभा कितनी सुन्दर है; किन्तु आप उसे विवाह में भी आभूषण तो पहनने नहीं देंगे, फिर यदि आप आज्ञा दें, तो उसे फूलों से सजा दूँ ।' बापू ने कहा—'उसे फूलों से अवश्य सजा सकती हो, किन्तु गिरे हुये फूलों से; क्योंकि फूल तोड़ने में तुम्हें आनन्द आयेगा, किन्तु उस वनस्पति को कितना कष्ट होगा? इसका भी ध्यान रखना तो जरूरी है ।' नायडू विवश होकर चुप रह गई ।

विशिष्ट कौन?

“गो-बाल ब्राह्मण-स्त्री पुण्यभागी यदीष्यते ।

सर्वप्राणिगणत्रायी नितरां न तदा कथम् ।।”

—(आचार्य अमितगति, श्रावकाचार, 11/3)

अर्थ:— यदि गौ, ब्राह्मण, बालक और स्त्री की रक्षा करनेवाला पुण्य भागी है, तो जिसने सम्पूर्ण प्राणीसमूह की रक्षा का व्रत लिया है, वह उससे विशिष्ट क्यों नहीं? वह अवश्य विशिष्ट है ।

अहिंसक अर्थशास्त्र

—श्रीमती रंजना जैन

लोक में 'पुरुषार्थ-चतुष्टय' की बात सभी स्वीकार करते हैं, जिनमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष समाहित हैं। इन चार पुरुषार्थों में 'अर्थ' नामक पुरुषार्थ के शाब्दिकरूप से कई पर्यायवाची कहे गये हैं। इनमें प्रयोजन, धन, शब्दार्थ, पदार्थ या वस्तु आदि विशेषतः उल्लेखनीय हैं। पुरुषार्थ-चतुष्टय में इनमें से 'धन' को ही अभिप्रेत माना गया है।

हमारे देश में उक्त पुरुषार्थ-चतुष्टय के सभी अंगों पर पर्याप्त ग्रंथ लिखे गये हैं। 'अर्थ' पुरुषार्थ पर महामात्य कौटिल्य (चाणक्य) का लिखा 'अर्थशास्त्र' अत्यन्त प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित है। ज्ञातव्य है कि महामात्य चाणक्य ने चन्द्रगुप्त का राज्य निष्कण्टक करने के उपरान्त नग्न दिगम्बर जैन साधु के रूप में दीक्षा लेकर धर्म-मोक्ष-पुरुषार्थों का साधन किया था। 'अर्थशास्त्र' ग्रन्थ का प्रणयन इसके पूर्व सम्राट् चन्द्रगुप्त के राज्यशासन को निर्विघ्न संचालित करने के लिए मार्गदर्शन-स्वरूप किया था; क्योंकि प्रशासन की पकड़ अर्थतन्त्र के बिना नहीं बनती है।

जैनाचार्यों एवं मनीषियों ने भी प्रसंगवशात् 'अर्थ' पुरुषार्थ के बारे में महत्त्वपूर्ण निर्देश दिये हैं। यद्यपि जैनदर्शन 'धन' को परिग्रह मानता है तथा इस रूप में वह उसे 'अनर्थ का मूल' भी बताता है—

“अत्यं अणत्थमूलं” —(आचार्य शिवार्य, 'भगवती आराधना', 1808)

वस्तुतः आवश्यकता से अधिक तथा अवरुद्ध-प्रवाह वाले धनसंचय को व्यवहार में भी हम 'अनर्थ का मूल' अनुभव करते हैं। धन के कारण भाई-भाई में, पिता-पुत्र में, मित्रों में और सगे-सम्बन्धियों में भी आये दिन अनेक प्रकार के झगड़े, उपद्रव और षड्यन्त्रों को घटित होते देखते रहते हैं। इतिहास की घटनायें एवं पौराणिक कथानकों के अतिरिक्त अन्य प्रकीर्णक कथायें भी इस तथ्य की पुष्टि करती हैं।

फिर भी जैनाचार्यों ने इसके सात्त्विक प्रयोगों के लिए अनेकों ऐसे महत्त्वपूर्ण दिशानिर्देश भी दिये हैं, जिससे इसकी समाजहित एवं राष्ट्रहित में उपादेयता सिद्ध होती है। साथ ही व्यक्ति के चारित्रिक निर्माण एवं विकास में भी वे निर्देश अतिमहत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

राज्य-प्रशासन एवं संचालन के साथ-साथ परिवार की सुरक्षित उन्नति में 'अर्थ' के स्वरूप का निर्देश करते हुये आचार्य सोमदेव 'नीतिवाक्यामृत' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं—

“आय-व्यय-मुखयोर्मुनि-कमण्डलुरेव निदर्शनम्” —(18/6, पृष्ठ 152)

अर्थात् राष्ट्र, संस्था या व्यक्ति की आय का स्रोत जैन मुनिराज के कमण्डलु में जल भरने के मुख के समान बड़ा होना चाहिए तथा खर्च का द्वार कमण्डलु के जल-निकासी-द्वार की भाँति छोटा होना चाहिये।

यदि कोई भी राष्ट्र या व्यक्ति अपनी आय से अधिक व्यय करता है, तो उसका पतन सुनिश्चित है; तथा यदि बराबर भी व्यय करता है, तो भी उन्नति कदापि नहीं हो सकेगी। हाँ ! यदि वह आय अधिक एवं व्यय मर्यादित करता है; तो उसकी उन्नति अवश्यंभावी है। यह मंत्र कंजूसी के लिए नहीं, अपितु अपव्ययता पर नियंत्रण के लिए है। अप्रयोजनभूत कार्यों, भौंडे प्रदर्शनों एवं झूठी मान-बढ़ाई के लिए किये जाने वाले खर्च तथा दुर्व्यसनों की पूर्ति के लिए किये जाने वाले खर्च को रोकना इस कथन का उद्देश्य है। मात्र धन-संचय करना यहाँ अभिप्रेत नहीं है।

जैनाचार्यों ने 'परिग्रह-परिमाणव्रत' का विधान करके अर्थशास्त्र को लोकहितकारी अहिंसक दिशा प्रदान की है। वस्तुतः अहिंसक रीति से नीति-न्यायपूर्वक कमाया जानेवाला धन निश्चय यही 'अर्थ' संज्ञा के योग्य है। हिंसक-रीति, अन्याय-अनीतिपूर्वक कमाया गया धन को तो 'अनर्थ' कहा जाता है; क्योंकि उसके फलस्वरूप दुर्व्यसनों का ही प्रसार होता है।

जैनाचार्यों ने यह भी एक अद्भुत प्रतिपादन किया है कि 'अपार धन का संचय वस्तुतः नीति-न्यायपूर्वक किया ही नहीं जा सकता है।'

आचार्य गुणभद्र लिखते हैं—

“शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न सम्पदः।

न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः।।”

—(आत्मानुशासनम्, 45)

अर्थः—सज्जनों के भी अपार सम्पत्ति की प्राप्ति शुद्ध (निर्दोष) धन से संभव नहीं होती है। समुद्र जैसे महान् जलनिधि में जलापूर्ति कभी भी निर्मल जल से नहीं, अपितु वर्षा के मलिन जल से ही होती है।

इसका कारण भी है। वह यह कि अपार धन-संचय समाज और राष्ट्र में आर्थिक विषमता को उत्पन्न करता है। और आर्थिक विषमता का मूल 'भ्रष्टाचार' को माना गया है।

यह कथन पंचमकाल में धनसंग्रह की प्रवृत्तियों एवं उसके संसाधनों को लक्ष्य में रखकर किया गया है। धनप्राप्ति का कारण तो पूर्वकृत पुण्यभाव है। कहा भी है—

“पुण्यैर्विना न हि भवन्ति समीहितार्याः।” —(अमृताशीति, 1-4)

पुण्य के भी दो रूप हैं; एक सम्यग्दृष्टि का पुण्य होता है, जो उसे फलस्वरूप

वीतरागी-देव-शास्त्र-गुरु का सान्निध्य विशेषतः उपलब्ध कराता है। साथ ही जो धन उसे मिलता है, उसका उपयोग दानादि सत्कार्यों में ही मुख्यतः होता है। जबकि मिथ्यादृष्टि का पुण्य धन-प्राप्ति में तो फलित होता है, किन्तु वह विषय-वासनाओं की पूर्ति, परिग्रह का संचय एवं नाना प्रकार के तनावों व झगड़ों की उत्पत्ति में चरितार्थ होता है। अतः ऐसे पुण्य का निषेध करते हुये जैनाचार्य लिखते हैं—

“पुण्येण होइ विहवो, विहवेण मओ मएण मइमोहो।

मइमोहेण य पावं, तम्हा पुण्णो वि वज्जेओ।।”

—(तिलोयपण्णत्ति, 9/52)

अर्थ:—पुण्य से वैभव (धनसम्पत्ति आदि) की प्राप्ति होती है, वैभव से अभिमान उत्पन्न होता है, अभिमान के कारण बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। भ्रष्ट-बुद्धि से नियम से (ऐसे कार्य होते हैं, जिनके फलस्वरूप) दुर्गति के कारण पापभाव की प्राप्ति होती है। अतः ऐसा पुण्य वर्जित कहा गया है, छोड़ने योग्य है।

यदि जैनाचार्यों के द्वारा प्रतिपादित अहिंसक अर्थशास्त्र को अपनाया जाये, तो अपराधों पर नियंत्रण, राष्ट्र की उन्नति, मानसिक शांति एवं पारस्परिक सौहार्द का प्रतिफल नियमतः प्राप्त होगा। अतः उक्त दृष्टियों से व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के हित में अहिंसक अर्थशास्त्र को अपनाया जाये, तो विश्व में शांति एवं समृद्धि का प्रसार होगा तथा 'अर्थ' का अनर्थकारी प्रतिफलन रुक सकेगा। ❖❖

‘अर्थशास्त्र’ के प्रणेता की अर्थ-दृष्टि

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य में यूनान का राजदूत मेगास्थनीज़ आया और वह अपने परिचयपत्र आदि प्रस्तुत करने साम्राज्य के महामात्य चाणक्य के पास पहुँचा। महामात्य चाणक्य एक साधारण-सी झोपड़ी में बैठकर कार्य कर रहे थे। मेगास्थनीज़ ने वहाँ पहुँचकर ससम्मान अपना परिचयपत्र एवं आवश्यक सामग्री प्रस्तुत की। औपचारिकता-पूर्ति के उपरान्त जब मेगास्थनीज़ वापस लौटने लगा, तो आचार्य चाणक्य ने जलते हुये दीपक को बुझाकर दूसरा दीप जला लिया। यह देखकर मेगास्थनीज़ वापस लौटा और विनयभाव से पूछा कि “श्रीमान् ! आपने ऐसा क्यों किया?” तो आचार्य चाणक्य बोले कि “पहिले वाले दीप में सरकारी तेल जलता है। जब तक मैं सरकारी कार्य कर रहा था, उस दीप को प्रज्वलित किये रहा। अब मैं निजी कार्य कर रहा हूँ, अतः सरकारी खर्चवाला दीप बुझाकर निजी खर्चवाला दीप जला लिया है। यदि मैं इतनी सावधानी नहीं रखूँगा, तो मेरे चरित्र में तो दोष लगेगा ही; अन्य सारे कर्मचारी भी सरकारी संसाधनों का उपयोग निजी कार्यों के लिए करने लगेंगे। तब यह राष्ट्र उन्नति कैसे कर सकेगा, जब यहाँ रक्षक ही भक्षक बन जायेगा, बाड़ ही खेत को खाने लगेगी?”

आज के सन्दर्भ में यह घटनाक्रम गम्भीरता से मननीय एवं अनुकरणीय है। ❖❖

जैनदर्शनानुसार गर्भस्थ शिशु की संवेदनशक्ति और विज्ञान की अवधारणा

—श्रीमती अमिता जैन

वर्तमान में महिलायें मातृत्व के स्वरूप को जिस तरह से गरिमाहीन करने लगी हैं तथा संस्कारों के प्रति असावधान रहने लगी हैं, उन्हें पारम्परिक मान्यताओं एवं आधुनिक वैज्ञानिक प्ररूपणाओं के समवेत आलोक में इसकी गरिमा का बोध करने तथा इस विषय में पर्याप्त सावधानी बरतने का स्पष्ट संकेत प्रस्तुत आलेख में किया गया है। विदुषी लेखिका ने इस बारे में सप्रमाण जानकारी तो प्रस्तुत की ही है, सावधानीपूर्वक संकेत भी किये हैं कि इस बारे में हमें कहाँ कैसी सावधानी रखनी है। आशा है आधुनिक पीढ़ी की असंयमित प्रवृत्ति से बड़े गलत प्रयोगों के लिए यह आलेख पर्याप्त सावधान तो करेगा ही, उन्हें सभी जानकारी के द्वारा मनःपरिवर्तन करके अपने संस्कारों एवं परम्परा के प्रति विनम्र एवं जागरूक बनायेगा।

—सम्पादक

जैनदर्शन में न केवल तत्त्वज्ञान का सूक्ष्म निरूपण किया गया है, अपितु अनेकों ऐसे निरूपण भी मिलते हैं, जिनके बारे में विज्ञान पहिले मान्यता नहीं देता था और अब स्वीकृति देने लगा है। ऐसे ही प्रकरणों में एक प्रकरण है कि क्या जन्म के पूर्व गर्भस्थ शिशु का मस्तिष्क इतना विकसित होता है कि वह प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति कर सके? जैनशास्त्रों में इस बात की स्वीकृति दी गयी है। क्योंकि इसमें मनुष्य के शिशु की शरीर पर्याप्तिपूर्ण होने के बाद उसे संज्ञी पंचेन्द्रिय ही माना है। तथा संज्ञी जीव की चेतना इतनी जागृत होती है कि वह विचारपूर्वक हर्ष, विषाद, आक्रोश आदि प्रतिक्रियाओं को अभिव्यक्त कर सके। भले ही वह स्थानाभाव एवं सामर्थ्याभाव से तदनुरूप कोई विशेष शारीरिक प्रतिक्रिया नहीं कर पाता है, फिर भी वह मानसिक तरंगों के रूप में तथा यथासंभव शारीरिक हलन-चलन द्वारा अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर ही देता है।

जैनाचार्य पाश्र्वदेव ने इस विषय में निम्नानुसार उल्लेख किया है—

“शरीरः पिण्ड इत्युक्तः ततः पिण्डो निरूप्यते, शुक्लरक्ताम्बुना सिकतं चैतन्यबीजमादिमम् ।।
एकीभूतं तथा काले यथाकालेऽवरोहति, एकरात्रेण कललं पञ्चरात्रेण बुद्बुदम् ।।
शोणितं दशरात्रेण मांसपेशी चतुर्दशे, घनमांसञ्च विशाह्ने गर्भस्यो वद्धति क्रमात् ।।
पञ्चविंशतिपूर्णेऽपि पलं सर्वाङ्कुरायते, मासेनैकेन पूर्णेन त्वञ्चत्वादीनि धारयेत् ।।

मासद्वये तु सम्प्राप्ते मासमेदः प्रजायते, मज्जास्थीनि त्रिभिर्मसैः केशांगुल्यश्चतुर्थकैः ॥
कर्णाक्षिनासिकाचास्यरन्ध्रं मासे तु पञ्चमे, सर्वांगसन्धिसम्पूर्णमष्टभिः सम्प्रजायते ॥
मासे च नवमे प्राप्ते गर्भस्थः स्मरति स्वयम्, जुगुप्सा जायते गर्भे गर्भवासं परित्यजेत् ॥
रक्ताधिके भवेन्नारी नरः शुक्राधिके भवेत्, नपुंसकस्समे द्वये त्रिविधः पिण्डसम्भवः ॥
मज्जास्थिशुक्रघातोश्च रक्त-रोमफलं तथा, पञ्चकोषमिदं पिण्डं पण्डितैः समुदाहृतम् ॥”

—(संगीत समयसार, अध्याय 2, पद्य 8-16, पृ० 25-26)

अर्थः—शरीर को 'पिण्ड' कहा जाता है, अतः पिण्ड का निरूपण किया जाता है। आदिम चैतन्य बीज शुक्र और रक्तजल (वीर्य और रजः) से सिंचित विशिष्ट काल में एकीभूत होता है और समय आने पर जन्म लेता है। एक रात्रि में 'कलल', पाँच रात्रियों में 'बुद्बुद', दस रात्रियों में 'शोणित', चौदह रात्रियों में 'मांसपेशी', बीस दिन में 'घनमांस' —इस रीति से गर्भस्थ शिशु क्रमशः बढ़ता रहता है। पच्चीस दिन पूर्ण होने पर वह गर्भ समस्त अंकुरों से युक्त हो जाता है और एक मास पूर्ण होने पर उस पर त्वचा आदि आने लगती है। दो मास में 'मांस' और 'मेद' उत्पन्न हो जाता है, तीन मास में 'मज्जा' और 'हड्डी', तथा चौथे मास में 'बाल' और 'अँगुलियाँ' निर्मित हो जाती हैं। पाँचवे मास में कान-नाक आदि के 'रन्ध्र' (छिद्र) बन जाते हैं तथा आठ मास में समस्त सधियों से युक्त पूर्ण शरीर बन जाता है। नौवाँ महीना लगने पर गर्भस्थ जीव स्मरण करने लगता है तथा उसे गर्भ के वातावरण से जुगुप्सा होती है और वह गर्भ-परित्याग की चेष्टा करने लगता है। यदि गर्भकाल में रक्ताधिक्य हो, तो 'नारी' तथा वीर्य की अधिकता होने पर 'पुरुष' शिशु होता है। दोनों की समानता होने पर नपुंसक शिशु होता है। विद्वानों ने इस पिण्ड को मज्जा, अस्थि, शुक्र, घातु, रक्त और रोम का फल 'पञ्चकोष युक्त' भलीप्रकार से कहा है।

इस बारे में आधुनिक विज्ञान के द्वारा भी ऐसे तथ्यों को स्वीकृति दी जा रही है, तथा जैनाचार्यों का नामोल्लेख भले ही वे नहीं कर रहे हैं, फिर भी उन बातों को मान्यता दे रहे हैं। सद्य-प्रकाशित एक ऐसे आलेख का अविकलरूप यहाँ दिया जा रहा है—

“शुण को भी क्रोध आता है

महाभारत की कथाओं में वीर अभिमन्यु के गर्भ में रहते हुये भी चक्रव्यूह रचना समझने की बात कही गई है। चक्रव्यूह में प्रवेश का तरीका तो अभिमन्यु सीख गया, मगर व्यूह भेदकर बाहर जाने की जानकारी उसे नहीं हो पाई। असल में जब पिता यह भेद समझा रहे थे कि मां को नींद आ गई और उन्होंने बात रोक दी। अभी तक इस घटना को अकसर मजाक के तौर पर लिया जाता रहा है, मगर अब चिकित्सकों और मनो-चिकित्सकों ने इसकी सत्यता सिद्ध की है।

तथ्य की पुष्टि के लिये ऐसे शोध और परीक्षण कर डाले हैं, जो बताते हैं कि नवजात

शिशु ही नहीं, भ्रूण तक अपने बारे में सोच सकता है। फ्रायडीय विचारधारा के हिमायती तो यहाँ तक कहते हैं कि “बचपन के पहले पड़ाव में ही बच्चा अपने हित-अनहित की बात समझने लगता है। कई बार तो उपेक्षा की गांठ उसके बड़े होने तक उसके मन में बंधी रहती है।”

मनोवैज्ञानिक मेलानी क्लार्न के अनुसार यदि माता बच्चे की देखभाल में कोताही बरतती है, तो तीन मास तक का बच्चा भी उसे साफ-साफ महसूस करने लगता है। उसमें आक्रोश पैदा हो जाता है। जो इस सीमा तक जा पहुँचता है, जहाँ उनके मन में माँ को मार डालने के विचार भी आने लगते हैं।

हालैंड, अमरीका, ब्रिटेन, चेकोस्लोवाकिया आदि देशों में इस दिशा में महत्त्वपूर्ण अध्ययन हुये हैं। परीक्षण के दौरान गर्भ में अध्ययन कैमरा लगाकर विविध दशायें नजदीक से जांची गयी हैं। यहाँ शुक्राणु और अंड के मिलन के बाद शुरू होने वाली भ्रूणावस्था का भी अध्ययन किया गया।

मनोवैज्ञानिक आर०डी० लैंग ने अपने प्रयोग में देखा कि एक महिला जो माँ नहीं बनना चाहती थी, उसके गर्भाशय में अनुपेचन के बाद बने कोशिका-डिम्ब यानि ब्लास्टोसिस्ट का न ठहराने की पूरी कोशिश की।

इस दशा में होता यह है कि कई बार तो कोशिका-डिम्ब सफल हो जाता है; मगर कई बार इस संघर्ष के दौरान जब कोशिका-डिम्ब को गर्भाशय में स्थान नहीं मिल पाता। वह आगे चलकर जीवनभर इस उपेक्षा को याद रखता है। यह भ्रूण गर्भ में रहकर तरह-तरह की हरकतें कर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। डॉ० लेकोराह ने भ्रूण को कुछ आक्रोशभरी हरकतें करते देखा है, जो बेहद आश्चर्यजनक थीं। कई हरकतें तो इस बात की कहानी कहती थीं कि ‘माँ तो मुझे चाहती नहीं, मेरा जीना बेकार है।’

एक घटना में तो रोगी बच्चे ने सात माह की गर्भावस्था के प्रवास में हुई दुर्घटना तक को याद किया। हुआ यों कि उस बच्चे के सिर में गर्भ में रहते चोट लगी थी। डॉक्टर हैरान थे कि भला ऐसे कैसे संभव हो सकता है। मगर जब उसकी माँ से पूछताछ की गई, तो उसने अपना अब तक का छिपा रहस्य खोल दिया। असल में जब यह बच्चा सात माह का गर्भ था, तो उसकी माँ अपने प्रेमी के साथ छिपकर घूमने गई थी। दुर्घटनावश माँ के पैर में चोट आई। हालांकि उसे तुरंत अस्पताल ले जाया गया और डॉक्टरों ने मामूली-सी चोट कहकर वापस भी कर दिया। मगर गर्भस्थ शिशु ने इसे माँ द्वारा उसे मार डालने की साजिश की कल्पना की। चोट की पुष्टि डॉक्टर को तब और पक्की हुई जब बच्चे के चीखने पर उसके सिर का कुछ भाग लाल हो गया।

हालाँकि मनोवैज्ञानिक पिअरे वोल्ट ने भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण अनुसंधान किया है। उन्होंने ‘गर्भाधान विश्लेषण’ नामक ऐसी तकनीक खोली हो, जिसमें वे गर्भ की

विभिन्न क्रियाओं का गूढ अध्ययन करके अपनी रिपोर्ट तैयार की है। इसके अलावा वे बच्चों और वयस्कों तक का गर्भ की याद करने के लिए प्रेरित करते हैं।

इस तरह से पिअरे वोल्ट ने गर्भ की बातें याद करनेवालों के खासे रिकार्ड एकत्र कर लिये हैं। उन्होंने एक परीक्षण में देखा कि गर्भ ठहरने के बाद जब माँ को स्राव हुआ, तो उसे भी शिशु ने याद रखा। उसने इसे माँ के प्रति इस आशय का आक्रोश बताया कि 'माँ मुझे गर्भ में नहीं रखना चाहती थी। वह चाहती थी कि गर्भपात हो जाये। इसीप्रकार के प्रयोग मनोवैज्ञानिक बिल स्वाटिघी ने भी किये हैं। उन्होंने ऐसे ही बच्चों को परखा, जिन्होंने गर्भ में रहते हुए कटु अनुभवों को सुखद अनुभवों से ज्यादा याद रखा।

पाँच साल या इससे ऊपर की आयु में घटी बातों की धुंधली याद तो प्रायः सभी को रहती है। मगर वैज्ञानिकों के अनुसार एक नवजात शिशु भी उस घड़ी को याद रख सकता है, जब वह पैदा हुआ था। इस दिशा में ब्रिटेन के फ्रैंक लेक और अमरीका के जाविद फेहर ने विशिष्ट प्रयोग किये हैं। उन्होंने बच्चों को प्रेरित कर जन्म के क्षेत्र याद दिलाये और उन्हें इसमें काफी सफलता भी हाथ लगी। इसीतरह के प्रयोग चेकेस्लोवाकिया के स्टॉन ग्राफ ने भी किये हैं। उन्होंने कई मानसिक रोगियों को अपने जन्म के क्षणों में फिर से पहुँचने को प्रेरित किया; अपने कई प्रयोगों से उन्होंने सही बातें पकड़ी भी। स्टोन ग्राफ ने पाया कि कुछ बच्चों को वयस्क होने तक माँ से बेहद लगाव रहता है। इसका कारण यह है कि एक तो माँ ने इन्हें काफी सुखद स्थिति में जन्म दिया। दूसरे वह अपनी माँ के उतने निकट रहे कि उनका मन बार-बार बचपन के क्षणों की याद करता और वह उसी स्थिति लौटने के लिए बेताब रहते। ऐसे बच्चों को माँ के आंचल में छिपकर पहली बार के स्तनपान की भी याद रही। वयस्क होने के बाद भी यह बच्चे खोये-खोये से रहते हैं और वे चाहकर भी नहीं जान पाते कि उन्हें किसकी तलाश है। उनकी आंखों में अक्सर माँ का आंचल तैर जाता है।

इसके ठीक विपरीत कुछ परीक्षण ऐसे भी आये हैं, जिनमें बच्चे लम्बे समय तक माँ के प्रति विरोध व्यक्त करते थे। स्टॉन ग्राफ के अनुसार प्रसव-वेदना जब लम्बी चलती है, तो माँ के गर्भाशय में संकुचन होता है और गर्भाशय का छिद्र लगभग बंद हो जाता है। इस दशा में उसे अधिक दबाव का अनुभव होता है।

इसके कारण बच्चे अपने जन्म को कष्टपूर्ण मानते हैं। इसके लिए वह माँ को दोषी मानकर चलता है। उसके प्रति आक्रोश की भावना कई परीक्षणों में इस आक्रोश को काफी लम्बे समय तक पाया गया है। परीक्षणों में ऐसे लोगों को जब उस सब को याद करने के लिए प्रेरित किया गया, तो उन्होंने उसे कष्टदायी क्षणों के रूप में याद किया।

कई बार ऐसा भी पाया गया है कि गर्भ में ठहरा बच्चा प्रसव के लिए माँ की सहायता भी करता है। वह स्वयं ऐसी गति पैदा कर लेता है कि कम प्रसव-वेदना से जन्म हो जाता

है। परीक्षणों में इस तरह की घटनाओं को सुख-दुःख मिश्रित पाया गया है। जन्म के बाद नवजात शिशु जैसा वातावरण देखता है, उसको भी याद रखता है। परीक्षणों में देखा गया है कि जिन बच्चों को पैदा होने के बाद काफी समय तक लाड़-प्यार मिलता है, वे बड़े होने तक अपने सुखद क्षणों की याद संजो रहते हैं।” —(हिन्दुस्तान दैनिक, 5 मार्च, 2000)

आशा है जैनसमाज के विज्ञान-रुचि-सम्पन्न व्यक्ति इस क्षेत्र में ध्यान देंगे और जैनाचार्यों के वैज्ञानिक प्ररूपणों से देश व समाज को अवगत करायेंगे। ❖❖

राजा श्रेणिक और कुणिक

मगध के अधिपति राजा श्रेणिक की सहधर्मिणी रानी चेलना के गर्भ में जब राजकुमार कुणिक का जीव आया, तो उसके संस्कारों के कारण चेलना अत्यधिक दुविधाग्रस्त हो गयी। क्योंकि उसके मन में सदैव श्रेणिक से कलह करने एवं उसका अहित करने के विचार आते, जो कि व्यक्तरूप में चेलना कदापि सोच भी नहीं सकती थी। जब कुणिक का जन्म हुआ, तो पालने में लेटा वह अपने पिता राजा श्रेणिक के पास आने पर दाँत किटकटाता तथा क्रूरतापूर्वक देखता था। बड़े होकर राजा गद्दी संभालने पर कुणिक ने अपने पिता श्रेणिक को जेल में बंदी करके रखा तथा अंततः वहीं पर कुणिक को आते देखकर उसके अत्याचारों से पीड़ित पिता का संक्लेशपूर्ण देहावसान हुआ। वस्तुतः जो कुणिक के क्रूर संस्कार थे तथा श्रेणिक के प्रति जो विशेष वैरभाव था, वह गर्भकाल में ही प्रकट होने लगा था, और उसका प्रभाव उसकी माँ चेलना के ऊपर भी पड़ा था। कहा जाता है कि उसके गर्भकाल में चेलना को श्रेणिक की छाती से खून बहते देखने का 'दोहला' हुआ था, जिसे वह भारतीय पतिव्रता नारी होने के कारण व्यक्त नहीं कर पायी थी। ❖❖

‘अरिहंत’

‘अरिहंत’ जैनशासन के मुख्य परिचायक हैं। जैनों के आराध्यदेव के रूप में जैनेतरों ने भी इनका सबहुमान अनेकत्र उल्लेख किया है। आचार्य विशाखदत्त ने ‘मुद्राराक्षसम्’ नाटक में इनके बारे में निम्नानुसार उल्लेख किया है—

“सासणमलिहंताणं पडिवज्जह मोह-बाहि-वेंज्जाणं।

जे पढममैत्त कडुअं, पच्छा पत्थं उवदिसंति।।” —(4/18, पृष्ठ 351)

अर्थ:— जो मोहरूपी व्याधि के लिए वैद्य के समान हैं, उन अरिहंतों के शासन (उपदेश) का अनुपालन करो। वे प्रथमतः तो (मोही प्राणियां को) कटुक औषधि के समान उपदेश देते हैं, जो कि बाद में वह पथ्य के समान (बलवर्धक) होता है।

“अलिहंताणं पणमामो जे दे गंभीलदाए बुद्धीए।

लोउत्तलेहिं लोए सिद्धिं मग्गेहिं मग्गंति।।” —(5/2, पृष्ठ 361)

अरिहंतों को प्रणाम करता हूँ, जो अपनी गंभीर बुद्धि अर्थात् सर्वज्ञता के द्वारा लोकोत्तर मार्गों से लोक में सिद्धि को प्राप्त करते हैं या सिद्धि का उपदेश देते हैं। ❖❖

मनीषी साधक : पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ

—डॉ० प्रेमचन्द्र रावका

एक ऐसा कल्पवृक्ष मरुभूमि में उगा, जिसकी सघन छाया में न जाने कितने विद्वानुरागी पथिकों ने न केवल शीतल छाँव पायी; अपितु ज्ञान एवं संस्कार के सुमधुर फलों का आस्वादन भी किया। ऐसे अद्वितीय मनीषी पंडितप्रवर चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ की 'जन्म शताब्दी' के सुअवसर पर कृतज्ञ विनयांजलि-स्वरूप यह आलेख प्रस्तुत है। —सम्पादक

भारतीय संस्कृति, साहित्य, कला एवं शौर्य का प्रमुख केन्द्र राजस्थान का भारतीय इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान रहा है। एक ओर यहाँ की भूमि का कण-कण वीरता एवं शौर्य के लिये प्रसिद्ध रहा है तो दूसरी ओर साहित्य एवं संस्कृति के संवर्द्धन एवं सम्पोषण में यहाँ के सन्तों, विद्वानों एवं श्रेष्ठियों ने अपना अमूल्य योगदान किया है। शक्ति और भक्ति का अपूर्व सामंजस्य इस प्रदेश की अपनी विशेषता है। यहाँ की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विरासत ने देश के विकास में उल्लेखनीय योगदान किया है। भारतीय वाङ्मय का विपुल भण्डार राजस्थान के ग्रन्थागारों में विद्यमान है।

राजस्थान की वीरभूमि ने अनेक प्रतिभाओं एवं मनीषी विद्वान् रत्नों को जन्म दिया है। महापण्डित आशाधर, महाकवि माघ, भट्टारक शिरोमणि पद्मनन्दि, भट्टारक सकलकीर्ति, महाकवि ब्रह्म जिनदास, आचार्य हरिभद्रसूरि, पं० टोडरमल, पं० दौलतराम, पं० जयचन्द छाबड़ा, पं० सदासुख कासलीवाल, मुनिश्री जिनविजय जैसे सन्तों एवं विद्वानों ने राजस्थान में सामाजिक एवं साहित्यिक क्रान्ति का बिगुल बजाया।

राजस्थान के ऐसे ही गौरवशाली विद्वानों में पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ का नाम स्वर्णाक्षरों में उल्लेखनीय है। उनका स्मरण आते ही उन्नत ललाट, आध्यात्मिक आभा से युक्त तेजस्वी मुख-मण्डल, कृश-देह, आजानुबाहु और सादा भद्रवेश से मण्डित एक वन्दनीय व्यक्तित्व सामने आ जाता है। वे उन विरल विभूतियों में से थे, जिन्होंने आजीवन अनेक विषम परिस्थितियों से लोहा लेते हुये स्वयं एक युग का निर्माण किया। उनका बाह्य व्यक्तित्व जितना सूक्ष्म, कोमल एवं दुर्बल था; अन्तरंग व्यक्तित्व उतना ही

दृढ़, सबल और गंभीर था।

पंडित चैनसुखदास जी अपने समय के अत्यधिक लोकप्रिय एवं श्रद्धास्पद विद्वान् माने जाते थे। जैन-समाज के वे शिरोमणि थे। जैन-समाज की शैक्षणिक, सामाजिक एवं धार्मिक गतिविधियों में उनकी महती प्रगतिशील भूमिका रहती थी। चार दशक तक उन्होंने जैन-समाज को विभिन्न क्षेत्रों में मार्गदर्शन दिया। बड़े-बड़े राजनेता, श्रेष्ठिगण एवं मुनिवृन्द भी उनकी प्रतिभा एवं समाजोपयोगी प्रगतिशील विचारों से प्रभावित होते और स्वीकारते थे।

जैनदर्शन के इस मनीषी विद्वान् का जन्म राजस्थान प्रान्त के जयपुर-जिलान्तर्गत भादवा ग्राम के श्री जवाहरलाल जी रांवका की धर्मपत्नी धांपूबाई की कुक्षि से माघ कृष्णा अमावस्या (22 जनवरी 1990) को सूर्यग्रहण के समय हुआ था। इनकी जन्म-कुण्डली में अतिशय विद्या-बुद्धि, यश एवं प्रभाव का असाधारण योग था। बचपन में ही एक पाँव पर पक्षाघात हो गया, जो आजीवन रहा। दस वर्ष की अल्पावस्था में पितृ-वात्सल्य से वंचित होना पड़ा। घर की आर्थिक स्थिति ठीक न होने से माता के साथ सूत भी कातना पड़ा।

प्रारम्भिक शिक्षा 'भादवा' और 'जोबनेर' में प्राप्त कर वे उच्च अध्ययन के लिए 'स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी' के छात्र बने। प्रारम्भ से ही वे कुशाग्र बुद्धि के थे। विद्यार्थी अवस्था में तार्किक शक्ति तीव्र होने से वे अपने साथियों में 'तर्कचन्द्र' के नाम से जाने जाते थे। पं० भूरामल और प्रसिद्ध विद्वान् पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री इनके सहपाठी रहे। वाराणसी से संस्कृत एवं जैनदर्शन का उच्च अध्ययन प्राप्त कर अपने ग्राम लौटने पर उनका भव्य स्वागत हुआ। पैर से लाचार होने पर भी उनके विवाह के कई प्रस्ताव आये, पर उन्होंने स्वीकार नहीं किये और आजन्म अविवाहित रहे।

पहले अपनी जन्म-भूमि भादवा में और फिर 'कुचामन' के समाज ने इनकी विद्वत्तापूर्ण सरल व्याख्यान-शैली से प्रभावित होकर इन्हें कुचामन के 'दिगम्बर जैन विद्यालय' का प्रधानाध्यापक बनाया। बारह वर्ष तक इस पद पर रहते हुये उन्होंने उस मारवाड़ प्रदेश में अनमेल विवाह, दहेज, कन्या-विक्रय एवं छूआछूत जैसी कुरीतियों में काफ़ी सुधार किया और सर्वत्र प्रशंसा के पात्र बने।

30 अक्टूबर 1931 को पंडित चैनसुखदास जी जयपुर की प्रसिद्ध 'दिगम्बर जैन महापाठशाला' के अध्यक्ष (प्राचार्य) बने। अब उनका कार्यक्षेत्र समूचा राष्ट्र हो गया। इनके सान्निध्य में सन्निकट और सुदूर स्थानों के छात्र जैनदर्शन एवं संस्कृत के ज्ञानार्जन के लिए प्रवेश पाने लगे। अपने चालीस वर्ष के अध्यापन-काल में पण्डित जी साहब ने अपने अन्तेवासी छात्रों को यथोचित सुशिक्षा प्रदान कर उनको बहुमुखी विकासोन्मुख कर महापाठशाला को महाविद्यालय का स्वरूप प्रदान करते हुए राष्ट्र की गौरवशाली शिक्षण-संस्था

बनाया। उनके शिष्यों की एक लम्बी संख्या रही जो देश के विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न पदों एवं कार्यों में संलग्न होकर समाज एवं राष्ट्र की सेवा में अग्रणी रहे हैं। उनके विद्वान् शिष्यों में स्व० पं० श्रीप्रकाश शास्त्री, स्व० पं० भंवरलाल न्यायतीर्थ, स्व० पं० मिलापचन्द शास्त्री, स्व० श्रीमती मोहनादेवी जैन न्यायतीर्थ, स्व० डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल एवं कविवर पं० अनूपचन्द्र न्यायतीर्थ, वरिष्ठ पत्रकार श्री प्रवीणचन्द छाबड़ा, डॉ० गुलाबचन्द्र जैन जैनदर्शनाचार्य, डॉ० राजकुमार जैन, वैद्य प्रभुदयाल कासलीवाल, वैद्य फूलचन्द जैन, प्रो० महादेव धनुष्कर, डॉ० प्रेमचन्द राँवका आदि प्रमुख हैं।

पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ का व्यक्तित्व महान् था और कृतित्व बहुआयामी। वे श्रेष्ठ-आदर्श अध्यापक, लेखक, पत्रकार, कवि, प्रवचनकार व समाज-सुधारक थे। जैनदर्शन, जैन-बन्धु एवं वीरवाणी जैसी पत्रिकाओं के माध्यम से उन्होंने एक ओर समाज में व्याप्त शिथिलाचारों एवं कुरीतियों के निराकरण के लिए जन-जागरण किया, तो दूसरी ओर युवा लेखकों का मण्डल तैयार किया।

पूज्य पंडित साहब का समग्र जीवन माँ भारती की आरती में ही व्यतीत हुआ। वे सरस्वती-पुत्र थे। उनकी विद्याराधना और साहित्य-साधना उच्च कोटि की थी। वे मौलिक रचनाकार थे। उनकी रचनाधर्मिता ने जैनदर्शनसार, सर्वार्थसिद्धिसार, भावना-विवेक, पावन-प्रवाह, प्रवचन-प्रकाश, अर्हत्-प्रवचन, प्रद्युम्नचरित, निक्षेपचक्र और दार्शनिक के गीत जैसी मौलिक रचनायें साहित्य-जगत् को प्रदान कीं। इनके अतिरिक्त उनके शताधिक लेखों, कहानियों, सम्पादकीय आलेखों, पुस्तकीय समीक्षाओं और आकाशवाणी-वार्ताओं ने जन-मानस को आन्दोलित किया। उनके प्रवचनों में सम्बोधन एवं उद्गार बड़े मर्मस्पर्शी होते थे।

विद्यार्थियों एवं शोधार्थियों के लिए उनके द्वारा अहर्निश खुले रहते थे। प्रातः 4.00 बजे से रात्रि शयनपर्यन्त उनका समय प्रायः अध्ययन-अध्यापन में ही व्यतीत होता था। उनकी आवश्यकतायें इतनी अल्प थीं कि वे हृदय खोलकर अपने शिष्यों को ज्ञान के साथ-साथ अर्थ से भी सहयोग करते थे। दाक्षिणात्य दार्शनिक विद्वान् एवं राजस्थान में संस्कृत शिक्षा निदेशालय के संस्थापक निदेशक स्व० श्री के० माधवकृष्णन के शब्दों में—“पं० चैनसुखदास जी ऋग्वेदकालीन आदर्श शिक्षक थे।” शिक्षा के क्षेत्र में की गई उनकी विशिष्ट सेवाओं के फलस्वरूप भारत सरकार ने उन्हें ‘राष्ट्रीय श्रेष्ठ शिक्षक पुरस्कार से सम्मानित किया, जो न केवल जयपुर, अपितु राजस्थान प्रान्त के किसी शिक्षक को पहली बार प्राप्त सम्मान था।

उनका अखिल भारतीय स्तर के विद्वानों एवं सन्तों से निकट का संबंध था, उनमें पं० दरबारीलाल कोठिया, पं० सत्यभक्त, पं० चन्द्रशेखर द्विवेदी (पुरी के शंकराचार्य), बौद्ध विद्वान् भदन्त आनन्द कौसल्यायन, यशपाल, जैनेन्द्रकुमार, प्रो० प्रवीणचन्द, आचार्य तुलसी, आचार्य हस्तीमल, ऋषभदास रांका, आचार्य नानेश आदि प्रमुख हैं। अनेक साधु-संतों को

आपने जैन-न्याय का अध्ययन भी कराया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अन्य क्षेत्रों के विकास की भाँति पूज्य पंडित साहब ने जैन समाज के भी विकास की आवश्यकता अनुभव की। उन्होंने समाज-हित की दृष्टि से जैन समाज को निम्न चार आयाम प्रदान किये, जो आज निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर हैं— एक, राजस्थान के दिगम्बर जैन मन्दिरों के शास्त्र-भण्डारों में संगृहीत वर्षों से असूर्यपश्य ग्रन्थ-राशि के सार-संभाल, सूचीकरण, प्रकाशन एवं उनके अज्ञात एवं महत्त्वपूर्ण तथ्यों के अन्वेषण हेतु दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीरजी की प्रबन्ध समिति को अनुसंधान-विभाग प्रारम्भ करने एवं निर्धन छात्रों तथा असहाय विधवाओं को आर्थिक सहायता देने की प्रेरणा दी। जो आज क्रमशः 'जैनविद्या-संस्थान' और 'अपभ्रंश साहित्य अकादमी' तथा 'छात्रवृत्ति-योजना' के नाम से कल्पवृक्ष का रूप ले चुके हैं।

दूसरा, पाक्षिक पत्रिका 'वीरवाणी' का प्रकाशन, जिसके द्वारा नवीन शोधपूर्ण आलेखों, सामाजिक-धार्मिक गतिविधियों एवं अन्य स्तम्भों से समाज को जागृत करने हेतु पं० भंवरलाल न्यायतीर्थ को प्रेरणा दी। इस पत्रिका ने पचास वर्ष के काल-खण्ड में अनेक शोधपूर्ण-विशेषांक भी प्रकाशित किये जो सन्दर्भ ग्रन्थ बने हैं।

तीसरा, सामाजिक संगठन की दृष्टि से 'राजस्थान जैन सभा' के मंच से समाज को संगठित कर दशलक्षण पर्व, क्षमावाणी पर्व, महावीर जयन्ती का वृहद् आयोजन एवं 'महावीर जयन्ती स्मारिका' का प्रकाशन आदि सांस्कृतिक कार्यक्रमों को सुव्यवस्थित किया।

चतुर्थ, 'राजस्थान जैन साहित्य परिषद्' का गठन कर विद्वानों को एक मंच प्रदान किया और उन्हें जैन साहित्य के अध्ययन, अन्वेषण एवं लेखन की ओर प्रवृत्त किया, जो आज भी प्रति वर्ष श्रुतपंचमी के आयोजन के रूप में गतिमान है। वे स्वयं इस परिषद के प्रथम अध्यक्ष एवं बाद में संरक्षक रहे। उनके समय में एक शोधपूर्ण पत्रिका भी प्रकाशित हुई।

पंडित जी साहब लोकेषणा से कोसों दूर रहते थे। आचार्यश्री विद्यानन्द जी ने उन्हें 'कपड़े से ढँके मुनि की संज्ञा दी।' प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया ने लिखा— "पं० टोडरमलजी के बाद निर्भीक, प्रभावी विद्वान् जयपुर में पं० चैनसुखदास जी हुये, जिन्होंने समाज को प्रबुद्ध किया।"

जैनदर्शन के ऐसे विश्रुत विद्वान् पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ के साहित्यिक, सामाजिक, शैक्षणिक एवं धार्मिक अवदान के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन-हेतु जयपुर जैनसमाज की प्रतिनिधि सभा ने उनके सौवें जन्म-वर्ष पर विविध कार्यक्रमों के साथ जन्म-शताब्दी समारोह मनाने का निर्णय लिया है। भारत सरकार ने इस वर्ष को 'संस्कृत वर्ष' के रूप में घोषित किया है। निश्चित ही इस वर्ष में पूज्य पंडित जी साहब द्वारा की गई संस्कृत-सेवा का भी मूल्यांकन होगा।



सिद्धार्थ का लाडला

(भगवान् महावीर के 2500वें निर्वाणोत्सव के शुभ प्रसंग पर निर्मित)

—जयचन्द्र जैन, मेरठ (उ०प्र०)

कब गया?
कहाँ गया?
किधर गया?
वह सिद्धार्थ का लाडला ।
वीर था,
गम्भीर था,
क्या उसे किसी वस्तु की थी कमी?
कमी नहीं थी बन्धुजो !
राज का कोष भी था भरा हुआ,
उनके राज्य का भी बड़ा विस्तार था,
किन्तु उसके तो मन में ही पूर्ण वैराग्य था,
आज प्रभात से न जाने कहाँ गया?
किधर गया?
वह सिद्धार्थ का लाडला ।
इधर ढूँढा, उधर ढूँढा,
मिला? ना मिला ।
मिला—
जहाँ रात्रि थी, चन्द्र था, चाँदनी थी,
तारों से आच्छादित गगन था,
चल रही सुगम पवन थी,

सर्दी का मौसम था,
हवा तीक्ष्ण थी, तेज थी, कँपा रही थी,
घनघोर वन था,
हिंसक पशुओं का विचरण था,
सरिता का तट था,
सरिता में थी लहरें,
तट पर खड़े हुए वृक्ष के नीचे बैठा हुआ वह
वीर था ।
ध्यान लगाये
अपने ही कल्याण के लिए नहीं;
बल्कि विश्व के कल्याण के लिए
बैठा हुआ नग्न था,
कर रहा मुक्ति का यत्न था
वह सिद्धार्थ का लाडला ।
इतने में डमक-डमक डमरू बजा,
बिजली कौंधी,
बादल गरजे,
जोरों से तूफान चला;
ऐसी गरजन,
ऐसी तड़कन,
डर लगता है ।

डरो नहीं बन्दुओ !
 इन्द्र सपरिवार चला ।
 लो, वीणा के तार बजे,
 घुँघरन की झंकार बजी,
 तांडव के सब साज सजे,
 लो डमक-डमक डमरू बजा;
 करताल बजी, सुरताल बजी,
 सारंगी की राग बजी,
 इन्द्र भी भूल चुका था अपने को
 ऐसी वहाँ सुर-सारंग बजी,
 फिर थिरक-थिरक सब अंग हिले,
 आँखें मटकी, पलकें मटकी
 मटक-मटक कर पाँव हिले ।
 मीठा जब ये राग सुना,

मन भक्ति का तूफान बना,
 फिर मेरी आँखियों ने मीठी अंगड़ाई ली,
 वे खो गई थीं मीठे सपनों में,
 उन्होंने समा लिया था अपने को अपने में ।

फिर सूरज निकला, रजनी भागी,
 तारे सोये, दुनिया जागी;
 दुनिया के संग मैं भी जागा,
 किन्तु मैंने पाया
 क्या?

वो सरिता का तट सूना पाया,
 फिर मुख से मेरे निकल पड़ा-
 कब गया, कहाँ गया?
 वह सिद्धार्थ का लाडला ।



वैशाली और महावीर

सुना, यहीं उत्पन्न हुआ था किसी समय वह राजकुमार ।
 त्याग दिये थे जिसने जग के भोग-विलास, साज-शृंगार । ।
 जिसके निर्मल जैन धर्म का देश-देश में हुआ प्रचार ।
 तीर्थंकर जिस महावीर के यश अब भी गाता संसार । ।
 है पवित्रता भरी हुई इस विमल भूमि के कण-कण में ।
 मत कह, क्या-क्या हुआ यहाँ इस वैशाली के आँगन में । ।

—(साभार *Homage to Vaisali*)

जैन विद्वानों से अपील

“ऐ जैनी पंडितो ! यह जैनधर्म आप ही के आधीन है । इसकी रक्षा कीजिये, द्योति (प्रकाश) फैलाइये, सोते हुआँ को जगाइये और तन-मन-धन से परोपकार और शुद्धाचार लाने की कोशिश कीजिये, जिससे आपका यह लोक और परलोक — दोनों सुधरें ।”

—ब्र० शीतल प्रसाद जी

(हिन्दी 'जैन गजट', 24 मई सन् 1896 ई० के अंक में प्रकाशित लेख का अंश)

(साभार उद्धृत, 'जैन जागरण के अग्रदूत', पृष्ठ 29)

भट्टारक-परम्परा एवं एक नम्र निवेदन

—नाथूलाल जैन शास्त्री

दक्षिण के श्रवणबेलगोला, मूडबिद्री, कारकल, हुम्मच, महाराष्ट्र में कारंजा, मलखेड, लातूर, कोल्हापुर, जिन्तूर, नदिड, देवगिरि, नागपुर, असागांव तथा राजस्थान में नागोर, प्रतापगढ़, जयपुर, अजमेर, ऋषभदेव, चित्तौड़, प्रतापगढ़, मानपुर, जेरहट, सागवाड़ा, महुआ, झूंगरपुर, और म०प्र० में इन्दौर, ग्वालियर, सोनागिर में भट्टारकों का केन्द्र तथा नवारी, भडौच, खंभात, घोघा आदि में इनका प्रभाव था। इनके बलात्कारगण, सेनगण, लाड़वा, सोजित्रा, नंदी, माथुर, काष्ठा, देशीय, द्राविड आदि गण-गच्छ थे। भट्टारक-परम्परा नवम शताब्दी से प्रारंभ होकर लगभग तेरहवीं सदी में स्थिर हुई है। श्रुतसागर सूरि के अनुसार बसंतकीर्ति द्वारा यह प्रथा आरंभ की गई।

भगवान् महावीर के निर्वाण के 683 वर्ष तक श्रुतधर आचार्य-परम्परा का इतिहास उपलब्ध है। सम्राट् खारवेल (पूर्व वि०सं० 160) द्वारा श्रुतसंरक्षण एवं सरस्वती-आंदोलन किये जाने पर उत्तर भारत में दुष्काल के पश्चात् दक्षिण से आये हुए दिगम्बराचार्य गुणधर, श्री कुन्दकुन्द, आचार्य धरसेन के शिष्य श्री पुष्पदंत, श्री भूतबलि ने पूर्व मुखाग्र श्रुत को स्मृति अनुसार शास्त्र-निबद्ध किया। इसीप्रकार श्वेतांबर-सम्प्रदाय द्वारा भी आगम को उनके अनुसार पुस्तकारूढ किया गया। इसकी चर्चा मैंने अपनी नवीन पुस्तक 'मूलसंघ और उसका प्राचीन साहित्य' में विस्तार से की है।

साधुओं के आचार-विचार में धीरे-धीरे शिथिलता आने से वि०सं० 136 में स्पष्ट रूप में सम्प्रदाय-भेद हो गया। दिगम्बर मुनियों में भी आदर्श और विशाल दृष्टि कम होकर संरक्षण और सम्प्रदाय की प्रवृत्ति बढ़ गई। विकासशीलता और व्यापकता का दृष्टिकोण नहीं रहा। फलस्वरूप भट्टारक-सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ। यह सब मुनिसंघ में ही हुआ। मुस्लिम राज्य में परिस्थितिवश वस्त्र-धारण की प्रथा को बल मिला। साथ ही हम गृहस्थों का सहयोग भी रहा। हम ही ने पूजा-पाठ और आवास-हेतु मठ, खेत और मंदिर आदि समर्पित किये, जिनके स्वामित्व का उन्हें अवसर मिला। हम लोगों ने अपवाद-मार्ग के रूप में उन्हें मान्यता दे दी। इनकी मर्यादातीत प्रवृत्ति का विरोध जयपुर, आगरा आदि के विद्वानों ने बाद में किया। इससे उत्तर प्रांतों में यह प्रथा बन्द-सी हो गई।

दिगम्बरत्व तो पूज्य उस समय भी था, इसी कारण 'भट्टारक पद' के लिये प्रथम

ही नग्न दिगम्बर अवस्था धारण की जाती थी। 'घापनीय' (श्वेताम्बर) को छोड़कर ये भट्टारक काष्ठा, द्राविड, माथुर आदि दिगम्बर-परम्पराओं के अन्तर्गत ही हैं। दिगम्बर दीक्षा-पट्टाभिषेक के अन्तर्गत स्वयं को मानते हैं, उनके सहस्रों दिगम्बर गृहस्थ भी ऐसा ही मानते हैं। इसलिए कमंडलु (सोना-चाँदी) के साथ विशेष छत्र, चामर, गादी, पालकी व बहुमूल्य वस्त्र तथा मयूर की, बलाक की, गृद्ध की पिच्छी रखते हैं तथा कुछ अपने गण-गच्छ के अनुसार व बिना पिच्छी भी रहते हैं।

बड़ी संख्या में मंदिर-मूर्तियों की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा, चारों अनुयोगों के सैकड़ों ग्रंथों की रचना, तीर्थयात्रा, यंत्र-मंत्र का चमत्कार, शासकों पर प्रभाव आदि में इनकी विशेष प्रसिद्धि है। हमारे शास्त्र-भण्डारों में इनके ही पूर्व दिगम्बराचार्यों के नाम से तथा स्वयं भट्टारकों के द्वारा लिखित ग्रंथ विद्यमान है। कतिपय ग्रंथों में वैदिक-परम्परा के क्रियाकांड सम्मिलित है। दक्षिण श्रवणबेलगोला में विविध लोकहितकारी संस्थाओं के निर्माता महान् विद्वान् भट्टारक भी विद्यमान हैं। अन्यत्र कोल्हापुर, हुम्मच, मूडबिद्री, ऋषभदेव आदि स्थानों पर ही भट्टारक अभी हैं।

सागवाड़ा (राज०) में प्राचीन श्री सकलकीर्ति भट्टारक की खाली गादी पर आप (आ० योगीन्द्रसागर) विराजमान होना चाहते हैं, यह पत्र-पत्रिकाओं में आलोचनाओं-सहित समाचार प्रकाशित है। निवेदन है कि उस गादी पर किसी योग्य ब्रम्हचारी विद्वान् को बैठा दें और आप अपने उच्च दिगम्बरत्व के पद को सुरक्षित रखते हुए यशस्वी बनें। आपका पद बहुत ऊँचा है। 'भट्टारक-पद' आपके लिये मुनिपद का अवमूल्यन है। आप गृहस्थावस्था से 'भट्टारक-पद' की दीक्षा लेते, तो उसका विरोध नहीं होता; क्योंकि आपके भक्त सागवाड़ा व आसपास के जैनाजैन हजारों की संख्या में है। फिर दिगम्बर भी जैसा आप चाहते हैं, आप रह सकते थे। किन्तु 'दिगम्बर मुनि-पद' की दीक्षा लेकर निर्ग्रन्थ से सग्रंथ होना शोभनीय नहीं। 'भट्टारक-पद' पर चाहे आप दिगम्बर रहें; किन्तु सग्रंथ-परिग्रह के कारण यह आपके वर्तमान पद से नीचा पद है।

आशा है आप मेरे नम्र निवेदन पर ध्यान देते हुये अपने वर्तमान पद के व्रत को भंग नहीं करेंगे, क्योंकि इससे आप व्रतभंग का फल दुर्गति का कारण बनेंगे और आपको अपकीर्ति का भागी होना पड़ेगा। थोड़े-से मनुष्य जीवन में मर्यादा में परोपकार के साथ स्वोपकार करते हुए आत्महित में समय व्यतीत करना ही श्रेयस्कर है। आपका हम लोगों पर विश्वास है। हम लोग भी आपको परम विद्वान्, प्रभावक प्रवक्ता एवं वंदनीय मानते हैं। विश्वास है कि हमारा अनुरोध कभी नहीं टलेगा। ❖❖

साधु को स्वप्न में भी अशुभ भाव नहीं होते

भारतीय श्रमण-दर्शन में नींद में भी आंशिक समाधि-सी मानी गयी है। यानी आंशिक शुद्धोपयोग साधु के लिये साधना में वरदान सिद्ध होगा। ❖❖

भट्टारक-परम्परा

—डॉ० जयकुमार उपाध्ये

जब लोक में कोई सैनिक अपने देश की रक्षा करते हुये शहीद होता है, तो उसके सर्वोच्च अधिकारी एवं राष्ट्राध्यक्ष भी उसके स्मारक के सम्मुख विनम्र होकर नतमस्तक होते हैं; वे यह विचार नहीं करते कि 'उस सैनिक का रैंक या स्तर क्या था?' क्योंकि उनके लिये सबसे बड़ी महत्ता देश की रक्षा के लिये प्राण न्यौछावर करना होती है। तब जिन्होंने जैन आगम-ग्रंथों एवं सम्पूर्ण संस्कृति की रक्षा के लिये अपना जीवन समर्पित किया और जिनकी यशस्वी परम्परा रही, उन लोगों के लिये समाज क्यों कृतज्ञ नहीं हो? यह विचारणीय आलेख इसी भावना से प्रबुद्ध पाठकों के मननार्थ यहाँ प्रस्तुत है।

—सम्पादक

यद्यपि दिगम्बर जैन आम्नाय में मुनि, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका, श्रावक एवं श्राविका के अतिरिक्त कोई अन्य पद मूलतः स्वीकृत नहीं है; तथापि 'भट्टारक' का पद इन सबके अतिरिक्त होते हुये भी शताब्दियों से चला आ रहा है। ये वस्तुतः न तो श्रावक (गृहस्थ) थे, और न ही मुनि। न तो इन्हें दिगम्बरत्व के अभाव में 'निर्ग्रन्थ' या 'अनगार' कहा जा सकता था और गृहस्थी एवं संसारचक्र में न पड़े होने से इन्हें पूर्णतः 'सागार' भी नहीं कह सकते हैं।

इनके द्वारा जैन-परम्परा में 'मन्दिर' एवं 'मकान' के बीच की भी एक अन्य स्थिति प्रचलित हुई, जिसे 'मठ' संज्ञा दी गयी। यह संस्कृति स्पष्टतः संक्रमण-युग की देन थी। जब जाति-द्वेष की प्रबल आँधी ने अविवेक का रूप धारण कर लिया और जैनों के ग्रंथ सुनियोजितरूप से नष्ट किये जाने लगे, तब 'मठों' की संस्कृति का सूत्रपात हुआ। ये मठ शास्त्रों के संरक्षण एवं ज्ञानाराधना के केन्द्र होते थे। इसीलिए इस मठीय संस्कृति को संक्रमण-युग की देन कहा जाता है।

इन मठों में शास्त्र-संरक्षण, उनके प्रतिलिपिकरण, उनके अध्ययन एवं अध्यापन आदि की व्यवस्था को देखने के लिए एक ऐसा व्यक्तित्व अपेक्षित था, जो संसार में अनासक्त रहकर मात्र जिनवाणी की सेवा एवं संरक्षण में अपना जीवन समर्पित कर सके। क्योंकि यदि वह संसार के झंझटों में उलझा रहेगा, तो समर्पित होकर शास्त्रसेवा एवं संरक्षण का दायित्व उस विकट संक्रान्तिकाल में नहीं संभाल सकता था। तथा श्रमणचर्या की प्रतिबद्धताओं के

कारण कोई भी श्रमण ऐसा दायित्व निभा नहीं सकता था। साथ ही उसे अगाध पाण्डित्य के साथ-साथ श्रुतभक्तियुक्त प्रबल जिज्ञासा भी अपेक्षित थी, अन्यथा वह श्रुत का संरक्षण व संवर्धन वस्तुतः नहीं कर सकता था। इसके बिना वह कैसे तो स्वयं शास्त्र पढ़ता, कैसे दूसरों को पढ़ाता, कैसे शुद्ध प्रतिलिपि करता और कैसे उन्हें सजग रहकर विवेकपूर्वक संरक्षित रखता? —ये सब बेहद कठिन दायित्व थे। इसलिए संसार से विरक्त चित्त, अगाध वैदुष्य के धनी एवं जिनमार्ग की व्यापक प्रभावना की उत्कट अभिलाषा रखने वाले व्यवस्था-निपुण व्यक्ति को ऐसे मठों का 'मठाधीश' या 'भट्टारक' बनाया गया।

इनके बारे में आचार्य इन्द्रनन्दि लिखते हैं—

“सर्वशास्त्रकलाभिज्ञो, नानागच्छाभिवर्धकः।

महात्मना प्रभावी, 'भट्टारक' इतीष्यते।।” —(नीतिसार, 19)

अर्थ:—जो सभी आगमशास्त्रों और कलाओं के ज्ञाता होते हैं, मूलसंघ के अनेकों गण-गच्छों के अभिवर्धक एवं महान् धर्मप्रभावक होते हैं; वे ही 'भट्टारक' कहलाते हैं।

वैसे तो स्वयं जिनेन्द्र परमात्मा को 'भट्टारक' संज्ञा से अभिहित किया गया है—

“भट्टान् पण्डितान् आरयति प्रेरयति स्याद्वादपरीक्षार्थमिति भट्टारक।”

—(जिनसहस्रनाम 3/32, पृ० 70)

अर्थ:—'भट्ट' अर्थात् विद्वानों को आप स्याद्वाद की परीक्षा के लिये प्रेरित करते हैं, अतः (हे जिनेन्द्र भगवान् !) आप 'भट्टारक' कहलाते हैं।

'भट्ट' शब्द विद्वान्वाची रहा है, अतएव हमारे धुरंधर आचार्यों के नाम के साथ भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। यथा—आचार्य भट्ट अकलंकदेव, आचार्य उग्रभूति भट्ट, आचार्य व्याघ्रभूति भट्ट, आचार्य छुच्छुक भट्ट, आचार्य जगद्धर भट्ट (इन्होंने कातंत्र व्याकरण पर भाष्य, न्यास तथा वृत्ति आदि अनेक टीकायें लिखी हैं) आदि नाम भी इस उपाधि से अलंकृत रहे हैं।

इन भट्टारकों के मठों में सामान्यतः विद्याभ्यासी छात्रों के अध्ययन-अध्यापन की विशेष व्यवस्था होती थी, इसलिए 'मठ' की परिभाषा प्रसिद्ध हुई—**“मठः छात्रादिनिलयः।”**

अर्थात् जहाँ पर छात्र आदि रहकर विद्याभ्यास एवं ज्ञानप्रभावना के कार्य करते हों, वह 'मठ' कहलाता है। इसे 'ज्ञान का मंदिर' होने से 'वत्थुसार' नामक ग्रंथ में 'मंदिर' की संज्ञा भी दी गयी है—

“मठं मंदिरं ति” —(वत्थुसार, 129)

भट्टारकों से अधिष्ठित इन ज्ञानपीठों (मठों) की परम्परा का प्रवर्तन सन् 720 ई० में दिल्ली में हुआ तथा इनकी मूलपीठ भी दिल्ली में ही बनी। फिर इसकी उपपीठों के रूप में शाखायें-प्रशाखायें सारे देश में स्थापित होतीं गयीं। इन सबके द्वारा श्रुत के संरक्षण, संवर्धन के साथ-साथ तत्त्वप्रचार-प्रसार का महनीय कार्य चलता रहा; इसीलिए शास्त्रोक्त न होते भी इनकी सामाजिक मान्यता एवं महत्ता निरंतर बनी रही, बढ़ती रही।

आज जो हमारे कसायपाहुड, छक्खंडागमसुत्त (षट्खण्डागमसूत्र) और कुन्दकुन्द-साहित्य सदृश मूल आगमग्रन्थ सुरक्षित मिलते हैं, उनकी सुरक्षा का मूल एवं एकमात्र कारण ये 'मठ' एवं इनके 'भट्टारक' रहे हैं। कल्पना करें कि यदि इनका संरक्षण नहीं होता, तो दिगम्बर जैन समाज का स्वरूप एवं अस्तित्व ही संकटग्रस्त हो जाता। इन भट्टारकों ने जहाँ अपने प्रबंधकौशल से आतताईयों से हमारे धर्मग्रन्थों की सुरक्षा की, वहीं अपनी प्रतिभा के बल पर इनका अध्ययन-अध्यापन संचालित किया। प्रायः सभी भट्टारक प्रतिभा से भरपूर एवं भद्रपरिणामी ही हुये हैं, अतः धर्मप्रभावना में इनका योगदान अतुलनीय रहा। इसी से प्रभावित होकर समाज ने भी इन्हें प्रभूत आदर-सम्मान प्रदान किया।

आज यदि किसी आपवादिक घटना या बात के कारण सम्पूर्ण भट्टारक-परम्परा को ही यदि कोई लांछित या तिरस्कृत करना चाहता है, तो वह कितनी बड़ी भूल कर रहा है— यह विचार लेना चाहिये। जहाँ हमारे यहाँ ऐसे आचार्य हुये, जिन्होंने प्रतिदिन दस-पाँच लोगों को जैनधर्म में दीक्षित किये बिना आहार तक नहीं लिया; जिन लोहाचार्य ने अग्रवालों को जैनधर्म में दीक्षित किया। ऐसे महान् आचार्यों की परम्परा से पुष्ट दिगम्बर जैन आम्नाय में उत्पन्न होकर यदि कोई ऐसे संस्कारी दिगंबर जैन की अवहेलना/तिरस्कार आदि करता है, तो उसे विचार लेना चाहिये कि वह कितना परम्परा-विरुद्ध कार्य कर रहा है। हमारे आचार्य तो यहाँ तक लिखते हैं—

“सगुणो निर्गुणो वापि श्रावको मन्यते सदा।

नावज्ञा क्रियते तस्य तन्मूला धर्मवर्तना।।”

—(आचार्य इन्द्रनन्दि, नीतिसार, 88)

अर्थात् एक सामान्य श्रावक वह गुणवान् हो या गुणहीन, उसका सदैव सम्मान ही करना चाहिये; कभी भी उसका अपमान नहीं करना चाहिये, क्योंकि धर्म की प्रभावना इन्हीं के आधार से होगी। अर्थात् सीखेंगे भी ये ही, तथा सीखने-सिखाने में मूल योगदान भी ये ही देंगे।

प्राचीनकाल में आदिब्रह्मा तीर्थंकर ऋषभदेव के पौत्र एवं चक्रवर्ती भरत के पुत्र मारीच ने इन सबकी उपस्थिति में सांख्य आदि मतों का प्रवर्तन किया; तो भरत ने चक्रवर्ती होते हुए भी उसे प्रतिबंधित नहीं किया था, जबकि वह तो जिनधर्म के विरोध में झंडा ऊँचा कर रहा था। तो ये 'भट्टारक' तो जिनधर्म का विरोध भी नहीं करते हैं, अतः इनका निषेध क्यों किया जा रहा है? हाँ ! इतना अवश्य है कि धर्म की मर्यादा के विरुद्ध यदि कोई व्यक्ति 'भट्टारक' पद पर आसीन होकर उसका दुरुपयोग कर रहा है, तो वह निश्चय ही उसका वैयक्तिक दोष है; न कि सम्पूर्ण भट्टारक-परम्परा का। अतः इस लेख के माध्यम से उन जिनधर्म की मर्यादा के विरुद्ध आचरण करनेवालों का पोषण या समर्थन कदापि नहीं समझना चाहिये। किंतु मात्र विरोध के लिए विरोध करना शोभनीय नहीं है। तथा निर्ग्रन्थ मुनि पद छोड़कर लोकैषणा एवं शिथिलाचार के पोषण के लिए भी भट्टारक बनने का यहाँ समर्थन नहीं है। किंतु जिस भट्टारक-परम्परा

ने एक जिनधर्म-रक्षण का इतिहास बनाया है, उसके योगदान की उपेक्षा भी सहनीय नहीं है।

बहुत वर्ष पहिले की बात है, दिल्ली में एक विशाल जैन धार्मिक समारोह हो रहा था। अनेकों श्रेष्ठीगण एवं विद्वान् आये हुये थे। तब एक सुप्रतिष्ठित विचारक श्रीमन्त ने प्रश्न किया था कि “आज लंगोटी खोलते ही व्यक्ति की सारी समाज उसकी पूजा करने लगती है, उसे हाथोंहाथ रखती है; जबकि विद्वानों को कोई नहीं पूछता है। वस्तुतः तो धर्मप्रभावना में पिछली शताब्दियों से पंडितप्रवर आशाधर जी, पांडे राजमल्ल जी, पं० बनारसीदास जी, पं० टोडरमल जी, कविवर दौलतराम जी, रत्नाकर वर्णी, पं० भागचंद जी, दानतराय जी, सदासुखदास जी कासलीवाल एवं भूधरदास जी जैसे विद्वानों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। और आज भी गुरु गोपालदास जी बरैया, भट्टारक पूज्य नेमिसागर वर्णी, पूज्य गणेश प्रसाद जी वर्णी आदि महामनीषियों द्वारा प्रवर्तित विद्वत्परंपरा जो धर्मप्रभावना कर रही है; क्या समाज ने इसकी कोई कीमत की है?” यह एक यक्षप्रश्न था, जो आज भी विचारणीय है तथा क्या आज समाज इसका उत्तर देने में समर्थ है?

मैं इस सन्दर्भ में एक घटना (1924 ई०) का उल्लेख करना चाहता हूँ। महाराष्ट्र प्रान्त के औरंगाबाद जिले में पठानों ने जैनों को बलपूर्वक मुसलमान बनाने का निश्चय किया। तब दो-चार जैन भागकर कोल्हापुर के मठ में गये और तत्कालीन स्वस्तिश्री लक्ष्मीसेन भट्टारक जी से रक्षा की विनती की। तब वे भट्टारक श्री कुदले जी नामक विद्वान् को साथ लेकर औरंगाबाद गये तथा इतिहास, संस्कृति एवं परम्परा के प्रमाणों को बताकर जैनधर्म की प्राचीनता एवं स्वतंत्रता सिद्ध की। उनकी बातों का पठानों पर बहुत प्रभाव हुआ, और वह धर्मान्तरण रुक गया।

हमें अपने इतिहास का एवं अपनी परम्परा का ज्ञान रखना चाहिये, इससे हमारी दृष्टि व्यापक बनती है एवं क्षुद्र उद्वेगों में आकर हम किसी पर आक्षेप नहीं करते हैं। जो व्यक्ति अपनी जाति के इतिहास एवं महापुरुषों के यशस्वी कार्यों की परम्परा से अनभिज्ञ होते हैं, वे ही ऐसे यद्वा-तद्वा वक्तव्य देते हैं कि “भट्टारक नहीं होने चाहिये, अमुक नहीं होने चाहिए, तमुक ठीक नहीं है, उसे बन्द कर दो” —इत्यादि।

नीतिवचन है कि— “स्वजाति-पूर्वजानान्तु यो न जानाति परिचयः।

स भवेद् पुंश्चली-पुत्रः स्यात् पितृवेधकः।।”

हमारे इतिहास पर दृष्टि डालें, तो पार्श्वनाथ स्वामी हुये, जिन्होंने हाथी से उतरकर मरणासन विषैले नाग-नागिन को ‘णमोकार मंत्र’ सुनाया। जीवंधर स्वामी ने अपने राजसी वैभव की परवाह किये बिना रुग्ण कुत्ते को ‘णमोकार मंत्र’ सुनाकर उसकी परिणति सुधारी। ऐसी उदार विचारधारा वाले जैनधर्म में होकर भी तोड़-फोड़ की मानसिकता कैसे बर्दाश्त की जा सकती है? हमें “मत ठुकराओ, गले लगाओ, धर्म सिखाओ” की परम्परा को नहीं छोड़ना है तथा जो साधर्मी हैं, उन्हें धर्ममार्ग में दृढ़ बनाये रखकर अन्य को भी धर्ममार्ग में लगाना है।



अपभ्रंश के 'कडवक-छन्द' का स्वरूप-विकास

—प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन

शब्दों का सम्बन्ध किसी एक व्यक्ति से नहीं है। सामाजिक सम्बन्धों के मूल्य-निर्धारण में उपयोगी होने के कारण इनका सम्बन्ध मानवमात्र से है। जिसप्रकार आर्थिक मूल्यों का संचालन सिक्कों द्वारा होता है, उसीप्रकार सामाजिक सम्बन्धों का निर्वाह शब्दों द्वारा। शब्द छन्द का रूप धारणकर विषयीगत भावाभिव्यक्ति करके संगीत का कार्य सम्पन्न करते हैं। यही कारण है कि प्रकृति की पाठशाला में बैठकर मनुष्य ने जबसे गुणगुनाने का कार्य आरम्भ किया, तभी से छन्द की उत्पत्ति हुई।

'छन्द' शब्द की व्युत्पत्ति 'छद्' धातु से मानी गई है, जिसका अर्थ 'आवृत्त करने' या 'रक्षित करने' के साथ 'प्रसन्न करना' भी होता है। 'निघण्टु' में प्रसन्न करने के अर्थ में एक 'छन्द' धातु भी उपलब्ध होती है। कुछ विद्वानों का मत है कि 'छन्द' की उत्पत्ति इसी 'छन्द' धातु से हुई है। भारतीय-वाङ्मय में 'छन्द' को 'वेदांग' माना गया है और उन्हें वेद का चरण कहा है। महर्षि पाणिनि ने ईस्वी सन् के लगभग 500 वर्ष पूर्व ही "छन्दः पादौ तु वेदस्य" की घोषणा की थी। 'वृहद्देवता' में कहा गया है कि "जो व्यक्ति छन्द के उतार-चढ़ाव को बिना जाने ही वेद का अध्ययन करता रहता है, वह पापी है।" यथा—

“आविदित्वा ऋषिछन्दो दैवतं योगमेव च।

योऽध्यापयेज्जपेत् वापि पापीयान् जायते तु सः।।”

पर छन्दशास्त्र की व्यवस्थित परम्परा आचार्य पिंगल के छन्दसूत्र से प्राप्त होती है। अनादिकाल से ही मानव छन्द का आश्रय लेकर अपने ज्ञान को स्थायी और अन्यग्राह्य बनाने का प्रयत्न करता आ रहा है। छन्द, ताल, तुक और स्वर समस्त मानव-समाज को स्पन्दनशील बनाते हैं। संवेदनशीलता उत्पन्न कराने में छन्द से बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं है। इसी साधन के बल से मनुष्य ने अपनी आशा-आकांक्षा एवं अनुराग-विराग को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक और एक युग से दूसरे युग तक प्रेषित किया है। वैदिक-साहित्य में प्रयुक्त गायत्री, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती छन्द प्रमुख हैं। लौकिक संस्कृत में तो वर्णिक और मात्रिक दोनों ही प्रकार के छन्दों का विविध रूप में प्रयोग हुआ है। इस छन्द-वैविध्य के बीच भी संस्कृत

में 'अनुष्टुप्' छन्द इतना प्रसिद्ध रहा है कि वह पद्य का पर्यायवाची ही बन गया। संस्कृत-भाषा की प्रकृति के अनुसार 'अनुष्टुप्' वह छन्द है, जो प्रत्येक प्रकार के भाव को व्यक्त करने में सक्षम है। यही कारण है कि करुण, वीर, शृंगार, विलास, वैभव, अनुराग, विराग प्रभृति विभिन्न प्रकार की अभिव्यंजना इस छोटे से छन्द में पाई जाती है।

ईसापूर्व 6-7वीं सदी से ही लोकभाषाओं ने जब काव्य का आसन ग्रहण किया, तब भाव-लय के साधन 'छन्द' में भी परिवर्तन हुआ। यों तो वैदिक-काल में ही गाथा-छन्द का अस्तित्व था। ऋग्वेद में 'गाथा' शब्द 'छन्द' और 'आख्यान' इन दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त है। पर यह गाथा-छन्द प्राकृत का वह निजी छन्द बना, जो अनुराग-विराग एवं हर्ष-विषाद आदि सभी प्रकार के भावों की अभिव्यंजना के लिये पूर्ण सशक्त है। यही कारण है कि प्रवरसेन- (द्वितीय), वाक्पतिराज और कुतूहल जैसे कवियों ने प्रेम, शृंगार, युद्ध एवं जन्मोत्सव आदि का वर्णन इसी छन्द में किया है। वाक्पतिराज ने अपने 'गडवहो' नामक काव्य में आद्यन्त 'गाथा छन्द' का ही प्रयोग किया है। अतएव स्पष्ट है कि प्राकृत के कवियों की दृष्टि से सभी प्रकार की भावनाओं की अभिव्यंजना इस एक छन्द में भी संभव है।

प्राकृत के पश्चात् ई० सन् की छठीवीं सदी से ही जब अपभ्रंश ने काव्य-भाषा का आसन ग्रहण किया, तो 'दोहा' छन्द 'अनुष्टुप्' के तृतीय संस्करण और 'गाथा' के द्वितीय संस्करण के रूप में उपस्थित हुआ। यह 'दोहा-छन्द' मात्रिक छन्द है और मात्रिक-छन्दों का सर्वप्रथम प्रयोग प्राकृत में प्रारम्भ हुआ। इसका प्रधान कारण यह है कि मात्रिक-छन्दों के बीज लोक-गीतों में पाये जाते हैं। संगीत को रागिनी देने के लिये मात्रिक-छन्द ही उपयुक्त होते हैं। तुक का मिलना ही संगीत में लय उत्पन्न करता है। यही कारण है कि सम और विषम चरणों में तुक मिलाने की पद्धति संगीत के लिये विशेष प्रिय हुई।

दोहा छन्द, जिसमें कि दूसरे और चौथे चरण में तुक मिलती है, अपभ्रंश के लिये अत्यधिक प्रिय रहा है। जितना भी प्राचीन अपभ्रंश-साहित्य है, वह सब दोहों में लिखा हुआ ही मिलता है। कडवक-पद्धति का आविर्भाव कब और कैसे हुआ, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। महाकवि स्वयम्भू ने अपने 'रिट्ठणेमिचरिउ' की उत्थानिका में पूर्ववर्ती शास्त्रकारों और कवियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए कहा है— छड्डणिय दुवइ धुवएहिं जडिय चउमुहेण समप्पिय पद्घडिया —(रिट्ठो 1/2/11)

अर्थात् कवि चउमुह ने 'दुवई' और 'धुवकों' से जड़ा हुआ 'पद्धडिया-छन्द' समर्पित किया। इस उल्लेख से इतना स्पष्ट है कि चउमुह कवि ने 'धुवक' और 'दुवई' के मेल से पद्धडिया-छन्द का प्रयोग किया है। अपभ्रंश के प्रबन्ध-काव्य में व्यवहृत 'कडवक' इसी पद्धडिया-छन्द का विकसित रूप है। आलंकारिकों ने 'सर्गः कडवकाभिघः' —(साहित्यदर्पण, 6/327) कहकर कडवकों को 'सर्ग' का सूचक माना है। संस्कृत का 'सर्गः' शब्द प्राकृत

में आश्वास बना और यही अपभ्रंश में आकर कडवक बन गया। परन्तु विचार करने से ज्ञाता होता है कि कतिपय अपभ्रंश-ग्रन्थों में सर्ग के स्थान पर सन्धि या परिच्छेद शब्द का व्यवहार हुआ है, अतः कडवकों को 'सर्ग' मानना उचित नहीं है। 'महाकाव्य' में 'सर्ग' का ठीक वही महत्त्व है, जो नाटक में 'अंक' का। नाटक का 'अंक' कथा के किसी निश्चित बिन्दु पर समाप्त होता है। वह एक अवान्तरकार्य की परिसमाप्ति की सूचना भी देता है। ठीक यही काम 'सर्ग' भी करता है, पर 'कडवक' इतने छोटे होते हैं कि वे इस सर्ग की उक्त शर्त को पूर्ण नहीं कर पाते। अतएव 'सन्धि' को तो 'सर्ग' अवश्य कहा जा सकता है, पर कडवकों को नहीं। हमारा अपना अनुमान है कि कडवक का विकास लोक-गीतों के धरातल पर हुआ है। जब अपभ्रंश में प्रबन्ध-पद्धति का आविर्भाव हुआ और दोहा-छन्द इनके लिये छोटा पड़ने लगा, तब अपभ्रंश-कवियों ने मात्रिक-छन्दों की परम्परा पर प्रबन्ध के वहन कर सकने योग्य पद्धडिया-छन्द का विकास किया। 16, 20, 24, 28, 32 एवं 48 अर्धालियों के अनन्तर 'घत्ता छन्द' देकर 'कडवक' लिखने की परम्परा आविर्भूत हुई।

लोकगीतों के विकास से ज्ञात होता है कि वीरपुरुषों के आख्यान गेयरूप में प्रस्तुत किये जाते थे। ये गीत किसी न किसी आख्यान को लेकर चलते थे। गेयता रहने के कारण आख्यान रोचक हो जाते थे। प्राकृत-काल में भी प्रबन्ध-लोकगीत अवश्य रहे होंगे और इन गीतों का रूप-गठन बहुत कुछ 'पद्धडिया-छन्द' से मिलता-जुलता रहा होगा। यदि यों कहा जाय कि प्रबन्ध-लोकगीतों में व्यवहृत तुक वाला छन्द, जिसका कि मूल उद्देश्य द्वितीय और चतुर्थ चरण की तुक मिलाकर आनन्दानुभूति उत्पन्न करना था, पद्धडिया का पूर्वज है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। अतः चउमुह कवि के जिस 'पद्धडिया' छन्द का उल्लेख स्वयम्भू कवि ने किया है, वह निश्चयतः प्रबन्ध लोकगीत से विकसित हुआ होगा। हम अपने कथन की पुष्टि में एक सबल प्रमाण यह उपस्थित कर सकते हैं कि 'कडवक' ठीक प्रबन्ध-लोकगीत का वह रूप है, जिसमें लोकगीत गायक चारुता और सुविधा के आधार पर अपने प्रबन्ध को कई एक गीतों से विभक्त कर विरामस्थल उत्पन्न करता है। ठीक यही परम्परा 'कडवक' की है। इसमें भी एक सन्दर्भांश को कुछ अर्धालियों में निबद्ध कर 'घत्ता' विरामस्थल उत्पन्न कर 'कडवक' का सृजन किया जाता है। अतः 'कडवक' का विकास प्रबन्ध-लोकगीतों की परम्परा से मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

'कडवक' की परिभाषा पर सर्वप्रथम विचार आचार्य हेमचन्द्र ने प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपने 'छन्दोऽनुशासन' में (6/1) लिखा है—

“सन्ध्यादौ कडवकान्ते च ध्रुवं स्यादिति ध्रुवा ध्रुवंक घत्ता वा।”

अपनी संस्कृत-वृत्ति में स्पष्ट करते हुये उन्होंने बताया है कि 'चतुर्भिः पद्धटिकाद्यैश्छन्दोभि कडवकम्। तस्यान्ते ध्रुवं निश्चितं स्यादिति ध्रुवा, ध्रुवंक, घत्ता

चेति संज्ञान्तरस, अर्थात् चार पद्धडिया छन्दों का 'कडवक' होता है। 'कडवक' के अन्त में 'ध्रुवा' या 'घत्ता' का रहना आवश्यक है।

भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में 'ध्रुवाभिधाने चैवास्य' (15/15) कहकर 'कडवक' के अन्त में 'ध्रुवा' का प्रयोग बताया है। आचार्य हेमचन्द्र ने 'ध्रुवा' की परिभाषा षट्पदी, चतुष्पदी एवं द्विपदी के रूप में प्रस्तुत की है। यथा—

सा त्रेधा षट्पदी, चतुष्पदी द्विपदी च ॥ 6/2 ॥

प्रयोगात्मक विधि से 'कडवक' की परिभाषा का विश्लेषण करने पर उसके अनेक रूप हमें उपलब्ध होते हैं। जम्भोटिया, जिसके कि प्रत्येक चरण में 8 मात्रायें, रचिता, जिसके कि पूर्वाब्ध और उत्तराब्ध में 28 मात्रायें, मलयविलयसिया, जिसके प्रत्येक चरण में 8 मात्रायें, खंडयं—23 मात्राओं वाला छन्द, अर्धाली—20 मात्रा वाला छन्द, हेला—22 मात्रा वाला छन्द, दुवई, प्रत्येक अर्धाली में 28 मात्रा वाला छन्द, घत्ता के पूर्व पाया जाता है और चरणों की संख्या 14 से लेकर 30 तक पाई जाती है। 'कडवक' के लिये अनिवार्य नियम 'घत्ता' का पाया जाना है। 'कडवक' में छन्द के पदों की कोई निश्चित संख्या नहीं पाई जाती। पुष्पदन्त ने 9 अर्धालियों से लेकर 13 अर्धालियों तक का प्रयोग 'कडवक' में किया है। इनके हरिवंशपुराण में 83वीं सन्धि के 15वें कडवक में 10 अर्धालियों के पश्चात् घत्ता का प्रयोग आया है और इसी सन्धि के 16वें कडवक में 12 अर्धालियों के पश्चात् घत्ता आया है। स्वयम्भू ने 8 अर्धालियों के अनन्तर घत्ता-छन्द का व्यवहार किया है। यही शैली रामचरितमानस में भी पाई जाती है। महाकवि तुलसीदास ने 8 अर्धालियों अर्थात् चौपाई के बाद दोहे का प्रयोग किया है।

महाकवि जायसी ने अपने पद्मावत में 7 अर्धालियों के पश्चात् दोहा-छन्द रखा है। यह छन्द-शैली पुष्पदन्त की कडवक-शैली से प्रभावित है। पुष्पदन्त ने 7 अर्धालियों से लेकर 12 अर्धालियों तक का घत्ता के पूर्व नियोजन किया है।

नूर मुहम्मद की 'अनुराग-बाँसुरी' में दोहा के स्थान पर 'बरबै छन्द' का प्रयोग पाया जाता है। अर्धालियों की संख्या अपभ्रंश के महाकवि स्वयम्भू और उनके पुत्र त्रिभुवन के समान ही है। अपभ्रंश-काव्य में घत्ता की मात्रायें समान नहीं हैं, अतः हिन्दी का बरबै भी घत्ते का ही रूपान्तर है। सोरठा, बरबै, कुण्डलिया का पूर्वार्ध एवं रोला का विकास भी घत्ता से ही हुआ है। यों तो रोला का प्रयोग अपभ्रंश में पाया जाता है, पर छन्द के विकास-क्रम में ध्यान देने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि घत्ता ने अनेक रूप धारण किये हैं और रोला भी उन्हीं अनेक रूपों में से एक है। यही कारण है कि स्वयम्भू और प्राकृत-पैंगलम् इन दोनों के द्वारा प्रतिपादित घत्ता की मात्राओं में भी अन्तर पाया जाता है। अतएव यह निष्कर्ष निकालना सहज ही सम्भव है कि 'कडवक' वह छन्द है जिसमें 7 से लेकर 16 या 18 तक अर्धालियाँ हों और अन्त में एक 'ध्रुवक' या 'घत्ता' का व्यवहार किया गया हो।



पुस्तक-समीक्षा

(1)

- पुस्तक का नाम : मूलसंघ और उसका प्राचीन साहित्य
लेखक का नाम : पं० नाथूलाल जी शास्त्री
प्रकाशक : कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, 40, सर हुकमचन्द मार्ग, इन्दौर-452002
(म०प्र०)
संस्करण : प्रथम संस्करण 1999 ई०, पृष्ठ 202, डिमाई साईज़, पेपरबैक
मूल्य : निर्दिष्ट नहीं

जैन समाज के वयोवृद्ध, गरिमामंडित, गंभीर वैदुष्य के धनी विद्वद्वरतनों में पं० नाथूलाल जी शास्त्री, इन्दौर (म०प्र०) का नाम अग्रगण्य है। वे निर्विवाद व्यक्तित्व हैं तथा आगमोक्त रीति से सप्रमाण ही कथन करनेवाले प्रज्ञामनीषी हैं। उनकी पुण्यलेखनी इस वार्धक्य में भी युवकों से भी अधिक सटीक एवं सक्रियता से साहित्यसृजन कर रही है— यह समाज को सुखद अनुभूति का विषय है।

आदरणीय पंडित जी साहब ने डॉ० सागरमल जैन की पुस्तक 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' नामक कृति में वर्णित पूर्वाग्रही एवं तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत किये गये तथ्यों से उत्पन्न भ्रामक स्थिति को दृष्टि में रखकर आगम एवं अन्य विविध प्रमाणों के आलोक में इस कृति की रचना की है। इसमें मूलसंघ और उनकी प्राचीनता के पूर्ण प्रमाणों को प्रस्तुत करते हुये विभिन्न आक्षेपों का सटीक, सप्रमाण उत्तर दिया है। समस्त मूलसंघानुयायी दिगम्बर जैन समाज को यह कृति अवश्य ही पठनीय है। इसमें प्रस्तुत तथ्यों एवं विवेचन से अनेकों भ्रान्तियों का निवारण होता है तथा हमारे आचार्यों एवं उनके साहित्य के बारे में यथार्थ जानकारी मिलती है।

सम्पूर्ण कृति में पं० जी साहब के ज्ञान की गम्भीरता, व्यापक शास्त्रीय अध्ययन, जीवन का अनुभव तथा संतुलित दृष्टिकोण का स्पष्ट दर्शन होते हैं। ऐतिहासिक, दार्शनिक, साहित्यिक एवं तात्त्विक दृष्टियों से इसमें प्रतिपादित तथा अत्यन्त उपयोगी हैं। इसके प्रारंभ में आचार्यश्री विद्यानंद जी मुनिराज का आशीर्वचन गुरु-गंभीर एवं मांगलिक उपलब्धि है।

इसके सम्पादन एवं प्रूफ-संशोधन में यद्यपि कुछ संभावनायें रह गयी हैं, फिर भी

विषयवस्तु एवं प्रस्तुतीकरण की गरिमा के समक्ष वे बातें उपेक्षणीय हैं। मूल लेखक के रहते हुए प्रकाशक को 'कॉपीराइट' पूर्णतः ले लेना आश्चर्यकर लगा। प्रत्येक जिनमंदिर, पुस्तकालय, स्वाध्यायशाला, विद्वानों एवं श्रावकों के निजी पुस्तकालयों में भी यह कृति अनिवार्यरूप से होनी चाहिये। तथा प्रत्येक मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविका को यह पुस्तक अवश्य पढ़ना चाहिये।

—सम्पादक ***

(2)

पुस्तक का नाम	: पाहुडदोहा
मूल ग्रंथकर्ता	: मुनि रामसिंह
संपादन एवं मराठी अनुवाद	: श्रीमती लीलावती जैन
प्रकाशक	: स्वयंभू प्रकाशन, 8-ए, सन्मतिनगर, सोलापुर-4 (महा०)
संस्करण	: प्रथम, नवम्बर 1999 ई०
मूल्य	: 50 रुपये (110 पृष्ठ, डिमाई साईज़, पेपरबैक, सुन्दर मुद्रण)

आज प्रान्तीय भाषाओं में जैन-ग्रंथों के जो संस्करण प्रकाशित हो रहे हैं, संभवतः उनमें मराठी भाषा के विद्वान् व प्रकाशक सर्वतः अग्रणी हैं। ऐसे कई नूतन संस्करणों में एक नवीनतम संस्करण है लगभग एक सहस्र वर्ष प्राचीन कृति 'पाहुडदोहा'। अपभ्रंश भाषा में मूलतः निबद्ध इस कृति को सर्वप्रथम स्वनामधन्य मनीषीप्रवर डॉ० हीरालाल जैन जी ने करके कारंजा से प्रकाशित कराया था। फिर कुछ समय पूर्व भारतीय ज्ञानपीठ से डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री के संपादन में इसका एक और संस्करण प्रकाशित हुआ था। किसी क्षेत्रीय भाषा में मेरी जानकारी में इस ग्रंथ का यह प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ है।

इसमें मुख्यतः डॉ० हीरालाल जी जैन के संस्करण को आधार बनाया गया है तथा भारतीय ज्ञानपीठ के संस्करण की भी भावार्थ आदि में कहीं-कहीं मदद ली गयी है। इसमें मूल दोहों का मराठी पद्यानुवाद भी विदुषी संपादिका के द्वारा किया गया है। साथ ही मराठी अनुवाद में भी भाषा एवं भाव के अनुरूप शब्दावलि का चयन करना उनके वैदुष्य को स्फुट करता है। मुद्रण-शैली एवं मुद्रण-सामग्री भी अच्छी है।

आशा है मराठी भाषा के अध्यात्मरसिक पाठकों को यह कृति पर्याप्त उपादेय रहेगी।

—सम्पादक ***

(3)

पुस्तक का नाम	: जैन आगम प्राणी कोश
प्रधान संपादक	: आचार्य महाप्रज्ञ
प्रकाशक	: जैन विश्व भारती, लाङ्गूँ-341306 (राजस्थान)
संस्करण	: प्रथम संस्करण '99, A-5 साईज़, आर्ट पेपर, सचित्र, पृष्ठ 120+12=132
मूल्य	: 250 रुपये (दो सौ पचास रुपये)

आचार्यश्री महाप्रज्ञ जी तेरापंथी श्वेताम्बर जैन-परम्परा के युगप्रधान आचार्य तो हैं ही, एक उत्कृष्ट कोटि के गवेषी विद्वान् एवं सिद्धहस्त लेखक भी हैं। उनके निर्देशन में जैन विश्व भारती, लाड़नूँ एवं अन्य श्वेताम्बरीय तेरापंथी जैन संस्थायें बौद्धिक कार्यों में भी समुचितरूप से संलग्न हैं।

जैन विश्व भारती, लाड़नूँ (राज०) द्वारा आचार्य महाप्रज्ञ जी के प्रधान संपादकत्व में प्रकाशित यह कोश-ग्रन्थ विशिष्ट महत्त्व रखता है। इसमें प्रमुख श्वेताम्बर आगम-ग्रन्थों में वर्णित/उल्लिखित प्राणियों (पशु-पक्षियों) का परिचय दिया गया है। प्रत्येक प्राणी के बारे में आगत मूल प्राकृत नामों के उल्लेख के साथ-साथ वर्तमान प्राणीशास्त्रियों की सुबोधगम्यता के लिए अंग्रेजी नामकरणों का भी उपयोग किया गया है; राष्ट्रभाषा में प्रदत्त परिचय तो सर्वजनोपयोगी है ही।

ग्रन्थों का कितनी तरह से अध्ययन किया जा सकता है और कितने आगमों से उनमें निहित तथ्यों का वर्गीकरण करके उपयोगी सामग्री को स्वतन्त्र स्वरूप प्रदान किया जा सकता है —इसका यह एक आदर्श प्रतिमान है।

दिगम्बर जैन आगम-साहित्य पर ऐसे अनेकों आयामों से कार्य करके इस तरह के अनेकों इससे भी विशाल कोश-ग्रन्थों का निर्माण किया जा सकता है। आवश्यकता है समाज को ऐसी दिशा एवं प्रेरणा देने की तथा संकल्पशक्ति के धनी, सूक्ष्मप्रज्ञावान् गंभीर विद्वानों को ऐसे कार्यों में भरपूर प्रोत्साहन के साथ नियोजित करने की। मेलों, आन्दोलनों, जलूसों, रैलियों एवं व्यक्तिपूजा की खातिर बने रहे तथाकथित नये तीर्थों के प्रति आँख बंद कर चलनेवाला दिगम्बर जैन समाज उसे चलाने वाला नेतृत्व, विशेषतः साधुवर्ग क्या इस बारे में गंभीरता से ठोस निर्णय ले पायेगा? —यह एक यक्षप्रश्न है।

ऐसे प्रेरक शोधकार्य एवं उसके नयनाभिराम प्रकाशन के लिए संपादक एवं प्रकाशक —दोनों अभिनंदनीय हैं।

—सम्पादक * * *

(4)

पुस्तक का नाम : गोम्मटेश्वर बाहुबली एवं श्रवणबेलगोल : इतिहास के परिप्रेक्ष्य में
लेखक : सतीश कुमार जैन
प्रकाशक : लाडा देवी ग्रंथमाला, 3-ई०, श्यामकुंज, 12-सी, लार्ड सिन्हा रोड,
कलकत्ता-71
संस्करण : प्रथम संस्करण 1992
मूल्य : 100 रुपये, पृष्ठ 151, डिमाई साईज, पक्की जिल्द

यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है, जिसमें इतिहास, संस्कृति एवं तथ्यों की पूरी प्रामाणिक जानकारीपूर्वक एक श्रमसाध्य प्रातिभ प्रयत्न स्पष्टतः परिलक्षित होता है। जैन-परम्परा के पौराणिक महापुरुषों तीर्थंकर ऋषभदेव एवं चक्रवर्ती भरत के बारे में

जहाँ विविध साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों से प्रामाणिक जानकारी प्रस्तुत की गयी है, वहीं श्रुतकेवली भद्रबाहु, सम्राट् चन्द्रगुप्त एवं आचार्य चाणक्य आदि का निर्विवाद ऐतिहासिक परिचय बहुआयामी प्रमाणों के साथ दिया गया है। इसी क्रम में श्रवणबेलगोल-स्थित ऐतिहासिक गोम्मटेश्वर की विशाल मूर्ति, उसके निर्माता, निर्माणविधि आदि का विशद परिचय तो दिया ही है; साथ ही इसमें उपलब्ध श्रवणबेलगोल-स्थित एवं इस अंचल के पुरातात्विक एवं ऐतिहासिक महत्त्व के शिलालेखों का परिचय भी अतिमहत्त्वपूर्ण है। फिर इस दिव्य प्रतिमा के महामस्तकाभिषेक एवं उसकी परम्परा के बारे में विशद एवं प्रामाणिक परिचय दिया गया है। तथा उपसंहाररूप में निकटवर्ती महत्त्वपूर्ण स्थानों एवं भगवान् बाहुबलि की मूर्तियों के निर्माण की परंपरा का भी संक्षिप्त परिचय दिया गया है। अंत में तीन परिशिष्ट दिये गये हैं, जिनमें शताब्दी-क्रम से शिलालेखों का उल्लेख, उनकी कुल संख्या एवं वंशावली के अनुसार शिलालेखों का विवरण दिया गया है।

कुल मिलाकर सम्पूर्ण पुस्तक विद्वानों, शोधार्थियों एवं अध्येताओं के लिए उपयोगी है ही; साथ ही सामान्य पाठकों के लिए भी रुचिकर सामग्री सरल शब्दावलि में प्रस्तुत करने से उपयोगी है। इसमें महत्त्वपूर्ण पुरातात्विक स्थलों के अच्छे छायाचित्र भी आर्टिपेपर पर मुद्रित है तथा श्री अक्षय कुमार जैन जी की 'प्रस्तावना' एवं लेखक की 'भूमिका' भी उपयोगी है।

इतिहास, संस्कृति, पुरातत्त्व एवं धर्म-दर्शन में रुचि रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए इस पुस्तक में पर्याप्त आकर्षण की सामग्री उपलब्ध है तथा यह कृति सभी के लिए संग्रहणीय भी है।

—सम्पादक * *

(5)

पुस्तक का नाम	: गौरव गाथा : आचार्यश्री विद्यानन्द
लेखक	: अखिल बंसल
प्रकाशक	: बाहुबलि सेवा संस्थान, 129-बी, जादौन नगर, स्टेशन रोड, दुर्गापुरा, जयपुर (राज०)
संस्करण	: प्रथम, 22 अप्रैल 1999
मूल्य	: पच्चीस रुपये मात्र, चित्रकथा की A/5 साईज, रंगीन मुद्रण।

बालकों में बहुरंगी चित्रकथायें अत्यन्त लोकप्रिय होती हैं। वे अत्यन्त रुचि से इन्हें पढ़ते हैं। तथा चित्रों के कारण इन्हें समझने में उन्हें सुविधा तो होती ही है, आकर्षण भी विशेष रहता है। इसी दृष्टि से जैन-परम्परा में भी वर्तमान युग में चित्रकथाओं के प्रकाशन का क्रम चला है। यह नयी पीढ़ी में संस्कार-निर्माण की दृष्टि से निश्चय ही प्रशंसनीय है।

इसके माध्यम से पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी के जीवन-दर्शन की प्रेरक झलक प्राप्त होती है। इस अनुकरणीय कार्य के लिये लेखक एवं प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं।

—सम्पादक * *

(6)

पुस्तक का नाम	: भारतीय परंपरा में व्रत : अवधारणा तथा विकास
लेखक	: डॉ० चन्द्रमौलि मणि त्रिपाठी
प्रकाशक	: ऋत्विज प्रकाशन, 34, संस्कृत नगर, रोहिणी, सेक्टर-14, दिल्ली-85
संस्करण	: प्रथम संस्करण 1999
मूल्य	: 66/- रुपये, पृष्ठ 176, डिमाई साईज, पेपर-गत्ते की जिल्द।

भारतीय-परम्परा में दो मूलधारार्ये रहीं, एक प्रवृत्तिमार्गी और दूसरी निर्वृत्तिमार्गी। निर्वृत्तिमार्गी धारा में श्रमण आते थे, जिन्हें वैदिक ऋषियों ने 'ब्रात्य' संज्ञा दी है। क्योंकि वे "हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्" के नियमानुसार हिंसा आदि पाँचों पापों से विरक्त होकर 'व्रत' अंगीकार करते थे। प्रारंभिक अवस्था में इन व्रतों को वे प्राथमिक स्तर पर धारण करते थे, अतः उन्हें 'अणुव्रती' कहा जाता था तथा पूर्णतया पापों से विरक्त होरे पर वे 'महाव्रती' कहलाते थे। अतः 'व्रत' अंगीकार करने की परम्परा मूलतः जैनश्रमणों की है। इन व्रतों को धारण करने एवं व्रत का उपदेश देने से वे 'ब्रात्य' भी कहलाते थे। इसी तथ्य के दृष्टिगत रखते हुये वैदिक ऋषियों ने श्रमणों को 'ब्रात्य' संज्ञा से अभिहित किया है। तथा उन्हें पर्याप्त सम्मान भी दिया है। निष्पक्ष आधुनिक विद्वानों ने भी इस तथ्य को मुक्तकंठ से स्वीकार किया है।

किन्तु इस पुस्तक के लेखक महोदय ने संभवतः इन तथ्यों का या तो अपने अनुसंधानकार्य में अवलोकन ही नहीं किया है; या फिर पूर्वाग्रह के कारण इन तथ्यों की उपेक्षा करके 'ब्रात्यों' को वैदिक-परम्परा का सिद्ध करने की असफल चेष्टा की है। उनके मननार्थ मैं यहाँ कतिपय साक्ष्य इस संबंध में प्रस्तुत कर रहा हूँ—

ब्रात्य वृषभदेव

'ब्रात्य आसीदीयमान् एव स प्रजापतिं समैश्यत्।' —(अथर्ववेद, 15/1)

ब्रात्य ने अपने पर्यटन में प्रजापति को धर्म की शिक्षा और प्ररेणा दी।

'ब्रात्यः संस्कारहीनः' —(अमरकोश, 8/54)

व्रत और ब्रात्य

'न ता मिनन्ति मायिनो न धीरा व्रता देवानां प्रथमा ध्रुवाणि।

न रोदसि अद्रुहा वेद्याभिर्न पर्वता निनमे तत्स्थिवांसः।।'

—(ऋग्वेद, 3/5/56/1)

देवों द्वारा गृहीत ध्रुव व्रत को माया, मिथ्या और निदान नष्ट नहीं कर सकते तथा धीर मनुष्य भी उनकी अवहेलना नहीं करते। पृथ्वी और आकश अपनी सम्पूर्ण ज्ञात प्रजाओं के साथ उनके व्रतों का विरोध नहीं करते। स्थिरता के साथ अवस्थित पर्वत नमनीय नहीं हुआ करते।

महाव्रात्य

‘व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत् ।
स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्पश्यत् तत् प्राजनयत् ॥
तदेकमभवत् तत्तल्लामभवत् तन्महदभवत् तज्जेष्ठमभवत् ।
तद् ब्रह्माभवत् तत्तपोऽभवत् तत् सत्यमभवत् तेन प्राजायत ॥
सोऽवर्धत, स महानभवत्, स महादेवोऽभवत्, स देवा ।
नामीशां पर्यैत् स ईशानोऽभवत् । स एक व्रात्योऽभवत् ॥’

—(अथर्ववेद, 15/1/1-6)

अर्थः— वह प्रजापति था। प्रजापति से उसने अपने आपको ऊपर उठाया अर्थात् नृपति-पद से ऊपर हुआ। गृहस्थ से सन्यास की ओर चलते हुए (ईयमानः) तत्काल उस प्रजापति ने व्रतों को ग्रहण किया, व्रात्य हो गया। उस प्रजापति ने आत्मा को सुवर्ण (किट्ट-कलिमादिरहित कांचन के समान अन्य पौद्गलिक-पदार्थ मोहकर्म सम्पर्करहित) देखा। उसने उसीको तपस्या से विशुद्ध किया-संस्कारित किया। तब वह आत्मा एक अभेद हुआ, विलक्षण हुआ, महान् ललाम-सुंदर हुआ, ज्येष्ठ हुआ, ब्रह्मा हुआ, तप हुआ और सत्य हुआ। वह अपने उक्त गुणों से ही पर्यायरूप में मानो नवीन उत्पन्न हुआ। वह ज्ञान से बढ़ा, महान् सर्वज्ञ हुआ महादेव हुआ। उसने सब देवों के ऐश्वर्य का अतिक्रमण कर ईशान पद प्राप्त किया। वह प्रथम व्रात्य (आद्य महाव्रती) हुआ।

इनके अतिरिक्त डॉ० जगदीशदत्त दीक्षित के विचार द्रष्टव्य हैं—“अथर्ववेद में ‘व्रात्य’ की महत्ता इसप्रकार वर्णित है कि यदि यज्ञ करते समय व्रात्य आ जाये, तो याज्ञिक को चाहिये कि व्रात्य की इच्छानुसार यज्ञ को करे अथवा यज्ञ को बन्द कर दे अथवा व्रात्य जैसा यज्ञविधान बताये, वैसा करे। विद्वान् ब्राह्मण ‘व्रात्य’ से इतना ही कहे कि “जैसा आपको प्रिय है, वैसा ही किया जायेगा।” आत्मसाक्षात्द्रष्टा महाव्रात्य को नमस्कार है।यही व्रात्य आजकल के जैनमतानुयायी हैं। महाव्रतपालक व्रात्य जैनसाधु हैं और सामान्य व्रात्यधर्म ही आज का जैनधर्म है। इन व्रात्यों की संस्कृति आध्यात्मिक थी, जबकि आर्य लोगों की संस्कृति आधिदैविक थी।”

—(ब्राह्मण तथा श्रमण संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ० 76)

जैनधर्म के प्रवर्तन-काल के बारे में विद्वान् पी०सी० राय चौधरी ने लिखा है कि—
“श्री वृषभदेव ने जैनधर्म का प्रचार मगध (बिहार) में पाषाणयुग के शेष और कृषियुग के आरम्भ में किया था।” —(जैनिज्म इन बिहार, पृ० 7)

मेरा इतना ही निवेदन है कि लेखक विद्वान् पूर्वाग्रहरहित होकर निष्पक्षभाव से तथ्यों का प्रस्तुतीकरण करें, ताकि पाठकों को निर्दोष एवं प्रामाणिक पाठ्यसामग्री मिले।

अपने श्रम के लिए लेखक साधुवाद के पात्र हैं। मुद्रण का स्तर सामान्य है।

—सम्पादक * * *

अभिमत

● प्राकृतविद्या के अक्तूबर-दिसम्बर '99 अंक में 'ग्रामे-ग्रामे कालापकं.....' शीर्षक से जैनाचार्य श्रीमच्छर्ववर्म लिखित 'कातन्त्र व्याकरण' की लोकप्रियता प्रकट होती है। कातन्त्र व्याकरण का वर्तमान स्वरूप अत्यन्त प्राचीन है। तथा जनमानस में इसके प्रथम सूत्र 'ओं नमः सिद्धम्' का स्वरूप 'ओनामासीधम' बन गया। कभी इसका प्रचार अखिल भारतीय स्तर पर रहा। यह व्याकरण 'कौमार-व्याकरण' के नाम से भी प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि भगवान् ऋषभदेव ने अपनी पुत्री कुमारी ब्राह्मी के अनुरोध पर उन्हें व्याकरण सिखाने के उद्देश्य से जिस व्याकरण को प्रस्तुत किया, कालान्तर में "कुमार्याः आगतं, प्राप्तं, प्रचारितं वा व्याकरणं कौमार-व्याकरणम्" के नाम से प्रसिद्ध हुआ तथा पठन-पाठन में प्रचलित हुआ तथा इसका स्वरूप व्यापक होकर भी कुछ समय के लिये अव्यवस्थित हो गया। कहीं पर एक वाक्य उद्धृत है कि "आ कुमारं यशः पाणिनेः" अर्थात् 'कौमार व्याकरण' के प्रारम्भ तक ही पाणिनि-व्याकरण का वर्चस्व रहा। इसी 'कौमार व्याकरण' के सूत्रों को सुव्यवस्थित कर आचार्य शर्ववर्म ने इसे 'कातन्त्र व्याकरण' के नाम से प्रस्तुत किया तथा ईषदर्थ में 'का' प्रत्यय होकर 'ईषत् तन्त्रम् कातन्त्रम्' ऐसी व्युत्पत्ति के आधार पर 'कातन्त्र' शब्द चरितार्थ हुआ। अतः यह निर्विवाद है कि कातन्त्र व्याकरण अतीत के किसी महातन्त्र का लघु संस्करण है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैनाचार्यों ने जनभाषा में विकसित भगवान् महावीर की वाणी को संस्कृत भाषा में सुव्यवस्थित करने के लिये ही अत्यन्त सरल एवं संक्षिप्त ढंग से व्याकरण के नियमों को सिखाने के लिये ही इसका प्रचार किया।

दक्षिण भारत पूना के 'डेकन कॉलेज' में प्राप्त एक हस्तलेख वाले ग्रन्थ में एक श्लोक है—

“छान्दसः स्वल्पमतयः शास्त्रान्तर-रताश्च ये ।

वणिक् सस्यादि संसक्ता लोकयान्त्रादिषु स्थिताः ।।

ईश्वराः व्याधिनिरताः तथाऽऽलस्ययुताश्च ये ।

तेषां क्षिप्रं प्रबोधार्थमनेकार्थं कालापकम् ।।”

—(सिस्टम ऑफ संस्कृत ग्रामर, वेलवल्कर)

इस आधार पर कहा जा सकता है कि जो 'छान्दस शास्त्र' पढ़ना चाहते हैं, मन्दमति वाले हैं, अन्य शास्त्र को पढ़ना चाहते हैं, व्यापारी हैं, कृषक हैं, यायावर हैं, राजा लोग हैं, व्याधिग्रस्त हैं, आलस्ययुक्त हैं, इन सब को शीघ्र ज्ञान करानेवाला यह व्याकरण है। डॉ०

जानकी प्रसाद द्विवेदी ने 'कातन्त्र व्याकरण विमर्श' ग्रन्थ में इस पर व्यापक प्रकाश डाला है। इसकी बहुत-सी पाण्डुलिपियाँ शारदालिपि में हैं; जिनको प्रकाश में लाने के लिये उनकी सम्पादन व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। आशा है कि प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद स्वामी विद्यानन्द जी के आशीर्वाद एवं मार्गदर्शन में डॉ० सुदीप जैन इस दिशा में आवश्यक ढंग से प्रयासरत रहेंगे।

—डॉ० रामसागर मिश्र, लखनऊ (उ०प्र०) * * *

● आपके द्वारा सम्पादित 'प्राकृतविद्या' नियमित रूप से प्राप्त होती है। इस पत्रिका की प्रशंसा जितनी की जाये वह कम है। सभी दृष्टियों से यह अनुपम है। क्यों न हो, इसमें राष्ट्रसंत आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज जी का आशीर्वाद एवं संरक्षण जो है। विद्वानों, जिज्ञासुओं के पास यह पत्रिका आप पहुँचा भी रहे हैं, यह भी विशेष ध्यातव्य है। इससे प्रसिद्ध विद्वान् रंगनाथन के वे सूत्र सार्थक होते हैं, जिनमें कहा गया है कि 'प्रत्येक पाठक को पुस्तक मिलना चाहिए तथा प्रत्येक पुस्तक को पाठक मिलना चाहिये।' आशा है भविष्य में यह और प्रगति करेगी तथा विश्व में 'प्राकृतविद्या' प्रमुख-पत्रिका का गौरव प्राप्त करेगी।

—विजय कुमार जैन, गोमतीनगर, लखनऊ * * *

● 'प्राकृतविद्या' में आपके द्वारा लिखित लेख (अक्तूबर-दिसम्बर '99) के अंक में 'ग्रामे ग्रामे कालापकं' पढ़ा। पढ़कर मन को बहुत प्रसन्नता हुई। आपने धर्म का इतिहास बताया। ऐसी पत्रिकाओं (जैनसंदेश) एवं लेखकों पर कृपया नियंत्रण लगाए, जिन्हें हमारे धर्म का इतिहास ना मालूम हो। बड़ी प्रसन्नता हुई कि आप जैसे नवयुवक विद्वानों के हृदय में अपने धर्म के प्रति बहुमान है। —आजाद कुमार जैन, जबलपुर (म०प्र०) * * *

● Thanks for sending m 'Prakrit Vidhya' October-December 1999 issue. The magazine gives the details study materials on Prait and the subjects related to Jainology. Your editorial 'ग्रामे-ग्रामे कालापकं' gives the various troofs on 'Jain Antiquity'. — T.R. Jodatti, Dharwad * * *

● 'प्राकृतविद्या' का वर्ष 11, अंक 3, प्राप्त हुआ। पत्रिका का प्रत्येक आलेख पठनीय एवं ज्ञानवर्द्धक होता है। अतः पत्रिका की प्रतीक्षा बनी रहती है।

सम्पादकीय अत्यंत तर्कसंगत एवं विद्वत्तापूर्ण है जिसमें 'दिगम्बर जैन प्रतिमाओं एवं दिगम्बर जैन ग्रन्थों' की प्राचीनता को अनेक प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया गया है। एतदर्थ धन्यवाद। इसीप्रकार पुस्तक-समीक्षा के अन्तर्गत 'जिनागमों की मूलभाषा की समीक्षा' अत्यंत विद्वत्तापूर्ण है। वैसे तो पत्रिका की सभी सामग्री पठनीय एवं उच्चस्तरीय है, फिर भी श्री कुन्दनलाल जी का आलेख 'देवनिर्मित जैन स्तूप', क्रोधादि-कषायों का विवरण, प्रो० (डॉ०) विद्यावती का आलेख 'श्रमण संस्कृति का प्रमुख केन्द्र कारंजा' तथा स्नेहलता जैन का लेख 'जिनपरम्परा के उद्घोषक महाकवि स्वयंभू' मुझे अच्छे लगे।

एक संवांग सुन्दर, उत्कृष्ट पत्रिका प्रकाशन के लिए आपको धन्यवाद।

—लाल चन्द्र जैन 'राकेश', गंजबासौदा, (म०प्र०) * * *

● 'प्राकृतविद्या' का अक्तूबर-दिसम्बर 1999 ई० का अंक प्राप्त हुआ। इस अंक की

अप्रतिम सामग्री से मेरे ज्ञान में अपूर्व अभिवृद्धि हुई है।

—हुकमचंद सोगानी, उज्जैन, (म०प्र०) **

● 'प्राकृतविद्या' के अक्टूबर-दिसम्बर 1999 ई० अंक में आपके लेख 'कातंत्र व्याकरण' पर पढ़ा। काफी परिश्रम से आपने लिखा है, इसी तरह अपने अध्ववसाय को ज्ञानाराधना में लगाये रखें। —डॉ० दामोदर शास्त्री, शृंगेरी, (कर्नाटक) **

● 'प्राकृतविद्या' का सद्यः प्रकाशित अंक मिला। सच कहूँ — इस पत्रिका से मुझे प्राकृत साहित्य को समझने में बड़ी मदद मिल रही है।

—डॉ० प्रणव शर्मा 'शास्त्री', बदायूँ (उ०प्र०) **

● 'प्राकृतविद्या' के अंक निरन्तर मिल रहे हैं। सामग्री पठनीय होती है। पत्रिका में निखार आ रहा है। —डॉ० ऋषभचन्द्र जैन "फौजदार", वैशाली (बिहार) **

● 'प्राकृतविद्या' के अक्टूबर-दिसम्बर 1999 ई० का अंक प्राप्त हुआ। मध्यमा, शास्त्री में अनेक ग्रन्थ पढ़े प्राकृतभाषा से शास्त्री उत्तीर्ण की जैनदर्शन में प्राकृतभाषा पूर्व थी, अब वरदराजा द्वारा संस्कृत का प्रादुर्भाव हुआ। जैन आयुर्वेद ग्रन्थ हैं। प्राकृतप्रकाश व्याकरण हेतु उत्तम है। प्रत्येक अंक समय पर भेज रहे हैं, इस पत्रिका को हार्दिक शुभकामनायें हैं। आपने जैनधर्म का उत्थान किया है। —नन्हेलाल जैन, ऐरौरा, टीकमगढ़ (म०प्र०) **

● 'प्राकृतविद्या' का अक्टूबर-दिसम्बर 1999 ई० का अंक प्राप्त हुआ। पत्रिका में संकलित लेख अनुसंधानपरक हैं। संपादकीय "ग्रामे-ग्रामे कालापकं...." अपने आप में ज्ञानवर्धक, विचारशील तथा दिशा-दर्शने वाला है। डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री ने 'महाबंध' की भाषा पर विचार-विमर्श किया है। डॉ० कुन्दनलाल जैन ने 'वेद्वे' शब्द पर से भ्रांति का आवरण हटाया है। वैशाली नगरी के व्यापारिक पक्ष पर डॉ० जयन्त कुमार ने ऐतिहासिक दृष्टि से प्रकाश डाला है। राजमल जैन ने केरल में जैनधर्म की प्राचीनता का विवरण अत्यंत रोचक रूप में प्रस्तुत किया है। जैन शोध-पत्रिकाओं में 'प्राकृतविद्या' की अपनी अलग पहचान है। —डॉ० निजामुद्दीन, श्रीनगर (काश्मीर) **

ज्ञानदान सर्वश्रेष्ठ है

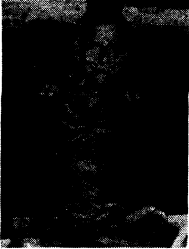
"सर्वेषामेव दानानां 'विद्यादानं' ततोऽधिकम् ।" —(अत्रि०, 338)

अर्थ:—सभी दानों में 'विद्यादान' या 'ज्ञानदान' सर्वश्रेष्ठ है।

दान चार प्रकार के माने गये हैं—आहारदान, औषधिदान, ज्ञानदान एवं क्षमादान। इन सभी का अन्तरायकर्म के उपशय के लिए विशेष योगदान रहता है। चूँकि ज्ञानदान मनुष्य के व्यक्तित्व को, विचारों को और आचरण को भी संस्कारित, परिमार्जित करता है; अतः यह सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। एक सुशिक्षित सुयोग्य विद्वान् अनेकों मनुष्यों को संस्कारित कर सम्पूर्ण समाज एवं राष्ट्र का हितसाधन कर सकता है। इसीलिए ज्ञानदान वैयक्तिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय उत्थान में अत्यधिक हितकारी होने से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। **

समाचार दर्शन

परमपूज्य आचार्यश्री आर्यनंदि जी मुनिराज का सुगति-गमन



पूज्यश्री आर्यनंदि जी
मुनिराज

जैनसमाज के गौरव को बढ़ाने वाले 20वीं शताब्दी के महान् ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध संत-शिरोमणि परमपूज्य आचार्यश्री आर्यनंदि जी मुनिराज ने दिनांक 7 फरवरी 2000 को 93 वर्ष की आयु में अत्यंत शांतभावपूर्वक शास्त्रोक्त-विधि से नश्वर शरीर का त्याग कर सद्गति की प्राप्ति की।

आपश्री की मुनि-दीक्षा दिनांक 13 नवम्बर '59 ई० को कुंथलगिरि क्षेत्र पर पूज्य आचार्य श्री समन्तभद्र जी मुनिराज के करकमलों से हुई थी। ब्रह्मचारी अवस्था से मुनि-दीक्षा लेने वाले वे बीसवीं शताब्दी के प्रथम महान् साधक थे। दीक्षोपरांत दो वर्षों में आपने

साठ से अधिक आगमग्रंथों का सूक्ष्म अभ्यास किया।

पूज्य आचार्यश्री आर्यनंदि जी मुनिराज हिंदी, मराठी, अंग्रेजी, उर्दू एवं संस्कृति आदि अनेक भाषाओं के विशेषज्ञ थे तथा आपश्री की पवित्र लेखनी से प्रातःस्मरणीय आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार आदि कई ग्रंथरत्नों का अनुवाद होकर प्रकाशन हुआ। आपकी पवित्र लेखनी यावज्जीवन साहित्यसृजन में निरत रही। आपश्री के करकलों से 168 धार्मिक पाठशालाओं की स्थापना हुई, अनेकों गुरुकुल बने एवं कई मंदिरों का जीर्णोद्धार भी हुआ। अपने गाँव-गाँव में घर-घर में वीतराग जैनधर्म का प्रचार-प्रसार किया। विभिन्न स्थानों पर शिविर लगाकर भी आपने समाज को ज्ञानदान दिया।

इक्यानवे (91) वर्ष की आयु में भी आपश्री 1700 कि०मी० चलकर सम्मेशिखर जी गये, जहाँ आपश्री ने इस क्षेत्र के लिए दिगम्बर जैन समाज को महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन एवं नेतृत्व प्रदान किया। ऐसे परमतपस्वी, ज्ञानाराधक आचार्यश्री आर्यनंदि जी मुनिराज के शास्त्रोक्तविधि से सुगतिगमन के निमित्त प्राकृतविद्या-परिवार की ओर से विनम्र श्रद्धासुमन सविनय समर्पित हैं।

—सम्पादक * * *

श्री टोडरमल स्मारक भवन में मुनिश्री आचार्य आर्यनंदि जी को श्रद्धांजलि

दिनांक 7.2.2000 को सायं 7.15 बजे तपोनिधि तीर्थरक्षा शिरोमणि आचार्यश्री 108 आर्यनंदि जी महाराज का समाधिमरण पूर्वक स्वर्गवास हुआ।

इस प्रसंग पर श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर में राजस्थान दिगम्बर जैनसभा के मंत्री श्री महेन्द्रकुमार जी पाटनी की अध्यक्षता में लगभग 200 भाई-बहिनों की उपस्थिति में श्रद्धांजलि सभा का आयोजन दिनांक 8.2.2000 रात्रि 8 बजे किया गया।

आचार्यश्री के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुये ब्र० यशपाल जी ने कहा कि — “कारंजा, बाहुबलि, एलोरा, नवागढ़ (महाराष्ट्र), खुरई (म०प्र०) आदि अनेक स्थानों पर संचालित गुरुकुलों को समय-समय पर प्रेरणा एवं मार्गदर्शन देकर महाराजश्री ने समाज पर अनन्त उपकार किये हैं। अखिल भारतीय दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा कमेटी के लिए एक करोड़ रूपयों का फण्ड बनाने का कार्य भी महाराजश्री की प्रेरणा एवं परिश्रम से ही संभव हो पाया है।”

श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय, जयपुर के प्राचार्य पण्डित श्री रतनचंदजी भारिल्ल ने कहा कि—“मुनिश्री का स्वर्गवास समाज के लिए अपूरणीय क्षति है। मुनिश्री की प्रेरणा से ही सामाजिक कुरीतियाँ, जैसे—बलिप्रथा तथा कुदेवादि गृहीत मिथ्यात्व को मिटाने का महान् कार्य सम्पन्न हुआ।”

ब्र० कल्पना बहिन ने “आचार्यश्री के सरलवृत्ति एवं संयमी जीवन को अपने में उतारना ही उन्हें वास्तविक श्रद्धांजलि होगी” — ऐसा कहकर विनयांजलि अर्पित की।

अध्यक्षीय भाषण में श्री महेन्द्रकुमार जी पाटनी ने उनके साथ बिताये कुछ विशेष प्रसंगों का स्मरण करते हुए उनके कार्य को महान् बताकर मुनिश्री को श्रद्धांजलि दी।

श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के छात्र प्रशान्तकुमार काले शास्त्री, विजय कालेगोरे शास्त्री, संतोष दहातोंडे शास्त्री, विवेक सातपुते शास्त्री, नितिन कोठेकर शास्त्री, अमोल संघई शास्त्री, सुनील बेलोकर आदि ने भी गुरुकुल में आचार्यश्री के सान्निध्य में ज्ञानप्राप्ति तथा उनके जीवन पर वक्तव्य देकर श्रद्धासुमन अर्पित किये। सभा का संचालन पण्डित किशोर कुमार जी बण्ड शास्त्री ने किया।

अन्त में सभा ने मौनधारण कर आचार्यश्री को चिर शाश्वत सुखों की कामना करते हुये सभा समाप्त हुई।

—श्रुतेश सातपुते शास्त्री, बापूनगर, जयपुर * *

धर्माधिकारी श्री वीरेन्द्र हेगड़े जी को ‘पद्मभूषण’-सम्मान

दक्षिण कर्नाटक प्रान्त के श्रीक्षेत्र ‘धर्मस्थल’ के परम सम्मान्य धर्माधिकारी श्री वीरेन्द्र हेगड़े जी को इस वर्ष भारत सरकार द्वारा ‘पद्म-भूषण’ के उच्चतर राष्ट्रीय सम्मान से सम्मानित किया गया है।

एक सात्त्विक, उच्च गरिमायुक्त दिगम्बर जैन कुल में जन्मे श्री वीरेन्द्र हेगड़े जी ‘सादा जीवन-उच्च विचार’ की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। आपकी मातृश्री रतनम्मा हेगड़े जी के सौम्य, सुदर्शन व्यक्तित्व की पूरा प्रभाव आपश्री के जीवन एवं व्यक्तित्व में परिलक्षित है। उच्चशिक्षा प्राप्त आपश्री मातृभाषा कन्नड़ के अतिरिक्त अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत आदि कई भाषाओं का अच्छा ज्ञान रखते हैं तथा आप बहुआयामी प्रतिभा के धनी हैं। 24 अक्तूबर 1968 को मात्र बीस वर्ष की आयु में आपका दक्षिण कर्नाटक के सर्वाधिक पूज्यतम क्षेत्र ‘धर्मस्थल’ के ‘धर्माधिकारी’ के पद पर विधि-विधानपूर्वक अभिषेक हुआ। इस पद की गरिमा

में श्रीवृद्धि करते हुए आपने जब 25 वर्ष पूर्ण किये, तो 24 अक्टूबर 1992 को तत्कालीन राष्ट्रपति महामहिम डॉ० शंकरदयाल शर्मा जी की उपस्थिति में हुए भव्य समारोह में आपके 'राजर्षि' की उपाधि से विभूषित किया गया।

आपश्री की छत्रछाया में दक्षिण कर्नाटक में ग्रामीण-विकास, स्वयं-रोजगार आदि की अनेकों जनकल्याणकारी योजनायें प्रवर्तित हैं। इनके अतिरिक्त धार्मिक, सामाजिक, शैक्षिक एवं चिकित्सा आदि क्षेत्रों में भी आपके द्वारा अनेकों महत्त्वपूर्ण योजनायें संचालित हुई हैं, जो नये कीर्तिमान स्थापित कर रही हैं। श्रीक्षेत्र धर्मस्थल पर आने वाले सभी श्रद्धालुजनों के लिए 'अन्नपूर्णा भोजनालय' का संचालन, निर्धनवर्ग के युवक-युवतियों के सामूहिक विवाह-कार्यक्रमों का आयोजन तथा उनमें कन्याओं को अपनी ओर से मंगलसूत्र, स्वर्णाभूषण, वस्त्र आदि भेंट देना आदि अनेकों समाजसेवा के कार्य निरन्तर प्रगतिपथ पर अग्रसर हैं। शैक्षिक क्षेत्र में ग्रामीणस्तरीय आदर्श प्राथमिक विद्यालयों से लेकर मेडिकल कॉलेज, इंजीनियरिंग कॉलेज आदि भी आपश्री की छत्रछाया में अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर भारती सांस्कृतिक परिवेश में चल रहे हैं। व्यसनमुक्ति-प्रतिष्ठान जैसे अभिनव प्रयोग भी आपकी दूरदर्शितापूर्ण नीति के परिणाम हैं। ऐसे विनम्र, समाजसेवी, गुणाधिष्ठान, धर्मप्राण, सच्चरित्र महान् व्यक्ति को भारत सरकार ने 'पद्म भूषण' के उच्चतर सम्मान से सम्मानित कर भारतीय गौरवशाली परम्परा का बहुमान किया है।

प्राकृतविद्या-परिवार एवं कुन्दकुन्द भारत न्यास की ओर से आपश्री को इस सम्मान-प्राप्ति की शुभबेला में अच्छे स्वास्थ्य, दीर्घायु एवं निरन्तर उन्नति की मंगलकामनायें सबहुमान समर्पित हैं।

—सम्पादक * * *

स्वातंत्र्योत्तर संस्कृत-प्रगति के कर्णधार डॉ० मण्डन मिश्र को 'पद्मश्री' सम्मान



डॉ० मण्डन मिश्र जी

स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरांत भारतवर्ष में ही नहीं अपितु विदेशों में भी संस्कृतभाषा एवं भारतीय संस्कृति का व्यापक प्रचार-प्रसार करनेवाले समर्पित समाजसेवी, भाषाविद्, कुशल प्रशासक एवं यशस्वी विद्वान् डॉ० मण्डन मिश्र जी का नाम आज संस्कृत एवं प्राकृतभाषाओं के साथ अभिन्न रूप से जुड़ गया है।

7 जून सन् 1929 ईस्वी को राजस्थान प्रांत के हणूतिया गाँव में जन्मे स्वनामधन्य डॉ० मण्डन मिश्र जी का संपूर्ण जीवन संस्कृत एवं प्राकृतभाषाओं तथा भारतीय संस्कृति की सेवा में समर्पित रहा। उन्होंने सदैव मण्डन की प्रवृत्ति को आत्मसात् किया, कभी भी किसी के खण्डन के प्रपंच में नहीं पड़े। उनके लोकमान्य प्रतिष्ठापूर्ण जीवन का यह मूलमंत्र रहा है। पं० नेहरू जी, श्री लालबहादुर शास्त्री जी, श्रीमती इंदिरा गाँधी जी जैसे यशस्वी प्रधानमंत्रियों का निकट साहचर्य पाकर भी आपने कभी कोई राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा नहीं रखी और भारतीय भाषाओं — विशेषतः संस्कृत-प्राकृत तथा ज्ञान-विज्ञान के लिये अपना जीवन समर्पित कर दिया।

देश-विदेश में अनगिनत शैक्षिक संस्थाओं के संस्थापक, संचालक एवं मार्गदर्शक रहे डॉ० मण्डन मिश्र जी आज भी 'अहर्निशं सेवामहे' के आदर्श वाक्य को अपने जीवन में चरितार्थ करते हुये निरंतर राष्ट्र की सेवा में समर्पित हैं। उनकी सुदीर्घ यशस्वी सेवाओं का इतना विस्तृत इतिहास है, कि यदि कोई लिखना चाहे तो एक पूरा ग्रंथ निर्मित हो सकता है।

ऐसे निस्पृह साधक मनीषी एवं समाजसेवी को राष्ट्रीय सम्मान बहुत पहले मिल जाना चाहिये था, फिर भी अब बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दिनों में उन्हें 'पद्मश्री सम्मान' से सम्मानित किया जाना न केवल डॉ० मण्डन मिश्र जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का सम्मान है; अपितु संपूर्ण शिक्षाजगत् इससे गौरवान्वित तथा उत्साहित है।

राजधानी के विभिन्न शिक्षा संस्थानों, समाजसेवी संगठनों एवं शिक्षाविदों ने उन्हें 'पद्मश्री सम्मान' दिये जाने का सुसमाचार जानकर व्यापक हर्ष व्यक्त किया है तथा उनका अभिनंदन किया है। साथ ही भारत सरकार को ऐसे सुयोग्य व्यक्तित्व के लिये यह सम्मान दिये जाने के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित की है। प्राकृतविद्या-परिवार एवं कुन्दकुन्द भारती न्यास की ओर से विद्वद्वरेण्य डॉ० मण्डन मिश्र जी को इस प्रतिष्ठित सम्मान की प्राप्ति होने पर हार्दिक अभिनंदन है। तथा उनके सुदीर्घ यशस्वी सुस्वस्थ जीवन की मंगलकामना भी।

—सम्पादक **

श्रीमती शरन रानी बाकलीवाल को 'पद्मभूषण' सम्मान

'सरोद रानी' के नाम से विश्वविख्यात श्रीमती शरनरानी बाकलीवाल देश की सुप्रतिष्ठित एवं वरिष्ठतम संगीत-विशेषज्ञ हैं। वे भारत की प्रथम सरोद-वादिका हैं, जो विगत तीन पीढ़ियों से सरोदवादन के लिए समर्पित हैं। आपको भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू जी ने 'भारत का सांस्कृतिक राजदूत' कहकर अभिनंदित किया था। और यह उचित भी है, क्योंकि आपने सम्पूर्ण विश्व में सरोदवादन के माध्यम से भारतीय संगीत को गौरवान्वित किया है।

आपको सन् 1968 ई० में 'पद्मश्री' सम्मान मिला था। फिर 'राष्ट्रीय संगीत दिल्ली का 'साहित्यकला-परिषद् एवार्ड' (1974), लॉस ऐंजिल्स विश्वविद्यालय; अमेरिका द्वारा डॉक्टरेट की मानद उपाधि (1979) 'नाटक अकादमी एवार्ड' (1986) एवं दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा विशेष सम्मानित एल्यूमिनि एवार्ड' (1999) आदि समय-समय पर प्राप्त होते रहे हैं। इस वर्ष भारत के महामहिम राष्ट्रपति की ओर से आपको 'पद्मभूषण' सम्मान दिये जाने की घोषणा की गयी है, जो निश्चय ही भारतीय संगीत के प्रति आपके अपार समर्पण एवं निष्ठा का सुपरिणाम है।

'संगीत-सरस्वती', 'कलामूर्ति', 'अभिनव संगीत शारदा', 'कलारत्न', 'सरोदश्री', 'भारत गौरव' एवं 'कला-शिरोमणि' आदि उपाधियों से विभूषित श्रीमती शरनरानी बाकलीवाल को श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने 1968 में तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ० जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक स्वतंत्र अभिनंदन-ग्रन्थ विशाल समारोह में समर्पित किया था। इस तरह सम्मानित होने वाली वे भारत की एकमात्र संगीतज्ञ हैं।

आपके दुर्लभ वाद्ययंत्रों की एक स्वतंत्र 'संगीत-वाद्य दीर्घा' आपके नाम से दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में है, जिसका उद्घाटन 1980 में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री इंदिरा गांधी ने किया था। यह इस श्रेणी की देश की विशालतम संग्रहदीर्घा है।

दिगम्बर जैन कुल की गौरवमूर्ति श्रीमती शरनरानी बाकलीवाल एक धर्मीनिष्ठ सात्त्विक महिलारत्न हैं। आपकी पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज में विशेष आस्था है। इस वर्ष के 'पद्मभूषण' सम्मान से सम्मानित किये जाने पर प्राकृतविद्या-परिवार की ओर से आपका हार्दिक अभिनंदन है।

—सम्पादक *—

आचार्यश्री विद्यानन्द जी के 'पीयूष-पर्व' पर ब्र० कमलाबाई जी को 'साहू श्री अशोक जैन-स्मृति पुरस्कार' समर्पित

परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज का 75वां जन्मदिवस 'पीयूष-पर्व' के रूप में लालकिला के सामने परेड ग्राउण्ड के आचार्य कुन्दकुन्द सभा मण्डप में आयोजित एक समारोह में मनाया गया। इसी अवसर पर शिक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के लिए श्री दिगम्बर जैन आदर्श महिला महाविद्यालय श्रीमहावीरजी की संस्थापिका ब्र० कमलाबाई जी को जैन समाज बड़ौत (उ०प्र०) द्वारा स्थापित द्वितीय 'साहू अशोक जैन स्मृति पुरस्कार' प्रदान किया गया।

समारोह के मुख्य अतिथि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सरसंघचालक श्री कु० सी० सुदर्शन ने आचार्यश्री को श्रीफल भेंटकर अपनी विनयांजलि अर्पित करते हुए कहा कि "विश्व में केवल भारत ही एकमात्र ऐसा आध्यात्मिक देश है जहाँ इसे कर्मभूमि के रूप में देखा जाता है। यहाँ सभी धर्मों के संतों ने भारतभूमि को पवित्र माना है। भारतीय संस्कृति त्याग और तपस्या की रही है। 1947 में हम भले ही आजाद हो गए, परंतु मानसिक रूप से स्वतंत्र नहीं हुए। इसके लिए मैकाले की शिक्षा पद्धति मुख्य कारण है। यदि हमने भारतीय मूल्यों को अपनाया होता, तो आज जो हिंसा एवं असत्य का बोलबाला है, वह न होता। हमारी शिक्षा भारतीय संस्कृति के अनुरूप होनी चाहिये।"

उन्होंने स्पष्ट किया कि "जब तक पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज जैसे संतों से मार्गदर्शन लेकर भारतीय संस्कृति एवं परम्पराओं के अनुरूप इस देश की व्यवस्था नहीं चलायी जायेगी; तब तक भारतवर्ष अपने खोये हुए गौरव एवं प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त नहीं कर सकेगा। एक ऐसी वयोवृद्ध शिक्षाविद् के सम्मान का पुण्यकार्य जो आज पूज्य आचार्यश्री के पावन सान्निध्य में हुआ है, वह उस शैक्षिक व्यवस्था का सम्मान है, जिसमें भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के मूल आदर्श सुरक्षित हैं।"

पूज्य आचार्यश्री ने अपने मंगल आशीर्वचन में कहा कि "यदि हमने अनुशासन का पालन किया होता, तो देश कहीं का कहीं पहुँच जाता।" चाणक्य के 'अर्थशास्त्र' की तुलना अपने कमण्डलु से करते हुए आचार्यश्री ने कहा कि "इसका आय का रास्ता बड़ा एवं व्यय का छोटा है। यही अर्थशास्त्र का मुख्य नियम है; परंतु आज गलत नीतियों ने देश को

कर्जदार बना दिया है। अहिंसक अर्थशास्त्र सदैव नियंत्रित होता है।" 'होम एज टू वैशाली' नामक पुस्तक में प्रकाशित प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी के लेख का जिक्र करते हुए आचार्यश्री ने कहा कि "यदि हमने वैशाली गणतंत्र की प्रणाली अपना ली होती, तो देश उन्नति के शिखर पर होता।" ब्र० कमलाबाई जी द्वारा महिलाओं की शिक्षा के लिए योगदान की सराहना करते हुए आचार्यश्री ने कहा कि "यह सिद्धांत है कि एक नारी पढ़ेगी तो सात पीढ़ी तिरिगी। आचार्य जिनसेन ने भी नारी की शिक्षा पर बल दिया है।"

श्री सुदर्शन ने ब्र० कमलाबाई को रजत प्रशस्तिपत्र, स्वर्णपदक, सरस्वती प्रतिमा, श्रीफल एवं एक लाख की राशि का चेक भेंट किया। समारोह का संचालन करते हुए डॉ० सुदीप जैन ने ब्र० कमलाबाई जी का प्रभावी परिचय दिया तथा प्रशस्तिपत्र का वाचन किया। श्रीमती सरयू पदपती ने तिलक, प्रो० डॉ० सुषमा सिंघवी ने शाल भेंट कर माल्यार्पण किया। 'साहू अशोक जैन पुरस्कार समिति' के अध्यक्ष श्री सुखमाल चन्द जैन ने बताया कि "साहू अशोक जी की निःस्वार्थ सेवाओं से समाज कभी उन्मत्त नहीं हो सकता। वे अत्यन्त मृदुभाषी, कुशल नेतृत्व के धनी तथा कार्यकर्ताओं को साथ लेकर चलते थे। उनकी स्मृति को ताजा रखने के लिए ही इस पुरस्कार की स्थापना की गई है।"

ब्र० कमलाबाई जी ने आभार व्यक्त करते हुए कहा कि "मनुष्य ज्ञान, चरित्र एवं विद्या के बिना अधूरा है। पुरुष को नारी ही सन्मार्ग पर लगाती है।" उन्होंने पुरस्कार में मिली एक लाख की राशि निर्धन छात्राओं के लिए खर्च करने की घोषणा की। उनके द्वारा स्थापित महाविद्यालय में दो हजार से भी अधिक छात्राएँ पढ़ती हैं। 1953 में 6 लड़कियों से इस विद्यालय की शुरुआत की गई थी। यहाँ से निकली अनेक छात्राएँ उच्च पदों पर कार्यरत हैं। इस विद्यालय की एक विशेषता यह है कि इसमें प्राइमरी से लेकर एम०ए० तक सभी के लिए शिक्षा निःशुल्क है।

श्री सुदर्शन ने समारोह के संयोजक श्री चक्रेश जैन को भी सम्मानित किया। उन्होंने आचार्यश्री के भजनों के संग्रह, डायरी एवं रत्नत्रय पत्रिका का लोकार्पण भी किया। समारोह में श्रीमहावीरजी की सांसद श्रीमती जसकौर मीणा, अतिथय क्षेत्र के अध्यक्ष श्री एन०के० सेठी, श्री शीलचन्द जी जौहरी, श्री रमेश चन्द जैन (पीएसजे) आदि विशेष रूप से उपस्थित थे। आकाशवाणी के महानिदेशक श्री हरिचरण वर्मा एवं शालिनी जैन ने भावपूर्ण भजन प्रस्तुत किए। डॉ० जयकुमार जैन ने सरस्वती वन्दना एवं डॉ० प्रेमसुमन जैन ने वैशाली गणतंत्र की महत्ता बताई।

—सम्पादक * * *

प्राच्यविद्या सम्मेलन चेन्नई (मद्रास) में

अ०भा० प्राच्यविद्या सम्मेलन का 40वाँ अधिवेशन 28, 29, 30 मई 2000 को मीनाक्षी कॉलेज, अरकोट रोड़ कोडमबक्कम, चेन्नई (मद्रास) में आयोजित हो रहा है। इस सम्मेलन में देश-विदेश के लगभग 1500 सौ विद्वान् सम्मिलित होंगे। इस अधिवेशन के प्राकृत एवं जैनधर्म खण्ड के अध्यक्ष प्रोफेसर डॉ० प्रेमसुमन जैन, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर चुने

गये हैं। 'प्राकृत एवं जैनधर्म विभाग' में प्रस्तुत किये जाने वाले शोध-आलेखों का प्रमुख विषय "जैनविद्या अध्ययन के 100 वर्ष" रखा गया है।

प्राकृत एवं जैनधर्म खण्ड में सम्मिलित होने वाले विद्वानों से अनुरोध है कि वे अपने शोध आलेख का विषय 'जैनविद्या अध्ययन के 100 वर्ष' से सम्बन्धित रखें और अपने आलेख की एक टंकित प्रति प्रोफेसर प्रेमसुमन जैन 29, विद्याविहार कॉलोनी, उत्तरी सुन्दरवास, उदयपुर-313001 को अवश्य भिजवा दें। इस अधिवेशन में प्रो० हीरालाल जैन (जबलपुर) के योगदान संबंधी आलेखों का भी एक सत्र आयोजित होगा। चयनित स्तरीय शोध-आलेखों के प्रकाशन की और उनके लेखकों को समुचित मानदेय प्रदान करने की भी व्यवस्था की जा रही है।

—डॉ० अशोक कुमार जैन, लाड़नू (राज०) * * *

श्रीमती सरयू दप्तरी आई०एम०सी० की नई अध्यक्ष बनीं



सौ० सरयू दप्तरी

भारती वाणिज्य एवं व्यापार-जगत् की सुप्रतिष्ठित संस्था इंडियन मर्चेन्ट चैम्बर (I.M.C.) के सत्र 2000-2001 के लिए अध्यक्ष पद को गौरवान्वित करने हेतु सुप्रसिद्ध उद्योगपति एवं समाजसेविका श्रीमती सरयू दप्तरी (ताई जी) को निर्विरोध रूप से सर्वसम्मति से चुना गया है। वे इसके पूर्व भी सन् 1981 ई० में इस पद को सुशोभित कर चुकीं हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि वे इस प्रतिष्ठित संगठन की सर्वप्रथम महिला-अध्यक्ष थीं।

अपने परिचितों में 'ताई जी' के नाम से विख्यात आप एक आद्य आत्मिक, शांतिप्रिय, कर्मठ एवं जिज्ञासुवृत्ति की सात्त्विक महिलारत्न हैं। समस्त जैन समाज को आपके व्यक्तित्व एवं उल्लेखनीय कार्यों पर गर्व है।

कुन्दकुन्द भारती-परिवार एवं प्राकृतविद्या-परिवार इस सुअवसर पर आदरणीय ताई जी का हार्दिक अभिनंदन करता है तथा उनके नेतृत्व में यह संस्था अहिंसक अर्थशास्त्र के भारतीय मूल्यों को व्यवहार में लाने में समर्थ हो सके — एतदर्थ हार्दिक मंगलकामना करता है।

—सम्पादक * * *

अहिंसा इन्टरनेशनल के 1999 के वार्षिक पुरस्कार प्रदत्त

अहिंसा इन्टरनेशनल की चयन-समिति द्वारा वार्षिक पुरस्कारों (वर्ष 1999) के अन्तर्गत इस वर्ष निम्नलिखित विद्वानों एवं समाजसेवियों को सम्मानित किया गया है।

1. 'अहिंसा इन्टरनेशनल डिप्टीमल आदीश्वर लाल जैन साहित्य पुरस्कार' 31000/- डॉ० के० आर० चन्द्रा अहमदाबाद को प्राकृत साहित्य में शोध एवं संशोधन के लिये।
2. 'अहिंसा इन्टरनेशनल भगवानदास शोभालाल जैन शाकाहार पुरस्कार' 21000/- सुश्री डॉ० रचना जैन सागर को शाकाहार पर 'बच्चों में शाकाहार विकास' पर प्रशंसनीय लेखन के लिए दिया गया।
3. 'अहिंसा इन्टरनेशनल रघुवीरसिंह जैन जीवरक्षा पुरस्कार' 11000/- सुश्री रश्मि शर्मा

- (नई दिल्ली) 'जीवाश्रम अस्पताल' द्वारा जीवों की साक्षात् रक्षा के लिए प्रदान किया गया।
4. 'अहिंसा इन्टरनेशनल प्रेमचन्द जैन पत्रकारिता पुरस्कार' 11000/- डॉ० अनुपम जैन (इन्दौर) 'अर्हत् वचन' के संपादक, जैन गणितज्ञ को समर्पित किया गया।

ये पुरस्कार 9 अप्रैल 2000, को कमानी सभागार, नई दिल्ली में भव्य समारोह में भेंट किये गये हैं। 'प्राकृतविद्या'-परिवार की ओर से सभी पुरस्कृत सज्जनों को हार्दिक बधाई

—सम्पादक * *

यू०जी०सी० के पाठ्यक्रमों में 'प्राकृतभाषा' स्वतंत्र विषय के रूप में प्रारम्भ

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू०जी०सी०) के द्वारा वर्ष में दो बार आयोजित होने वाली 'व्याख्यातापद-अर्हता-परीक्षा' (N.E.T.) तथा 'कनिष्ठ शोध-अध्येतावृत्ति पात्रता-परीक्षा' (J.R.F.) के पाठ्यक्रमों में 'प्राकृतभाषा' को स्वतन्त्र विषय के रूप में मान्यता प्राप्त थी; किंतु गतवर्ष यह मान्यता अप्रत्याशित रूप से समाप्त कर दी गयी थी। तब से प्राकृतभाषा के अध्येताओं एवं भाषाविदों में यू०जी०सी० के इस कदम के प्रति व्यापक खेद व्याप्त था।

यह परम हर्ष का विषय है कि विख्यात शिक्षाविद् डॉ० मण्डन मिश्र जी के सद्प्रयत्नों से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष माननीय श्री हरिगौतम जी ने 'प्राकृतभाषा' को इन परीक्षाओं में पुनः स्वतन्त्र-विषय के रूप में मान्यता दे दी है। उनके इस कदम का प्राकृतभाषा-प्रेमियों एवं शिक्षाविदों ने व्यापक स्वागत किया है तथा इस महान् कार्य को कराने के लिए डॉ० मण्डन मिश्र जी के प्रति एवं 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त की है।

—डॉ० सुदीप जैन * *

डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया का समाधिमरण

जैन-विद्वानों की परम्परा में चार न्यायाचार्य विद्वान् हुये — पूज्य क्षु० गणेश प्रसाद जी वर्णी, पं० माणिक चन्द जी कौन्देय, डॉ० महेन्द्र कुमार जी जैन एवं डॉ० दरबारी लाल जी कोठिया। इन चारों विद्वानों ने जैनसमाज की एवं साहित्य की जो अनुपम सेवा की है, उसे जैनसमाज के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाना चाहिये।

डॉ० दरबारीलाल कोठिया इस परम्परा के अंतिम विद्वान् थे। उन्होंने जैन तत्त्वज्ञान को व्यावहारिक जीवन में उतारते हुये 'पंडितमरण' का वरण किया।

ऐसे अद्वितीय मनीषी के प्रति सुगतिगमन एवं बोधिलाभ की मंगलकामना के साथ 'प्राकृतविद्या-परिवार' की ओर से हार्दिक श्रद्धासुमन समर्पित हैं। —सम्पादक * *

'पत्राचार प्राकृत पाठ्यक्रम'

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा संचालित अपभ्रंश साहित्य अकादमी द्वारा "पत्राचार प्राकृत सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम" प्रारम्भ किया जा रहा है। सत्र 1 जुलाई, 2000 से

प्रारम्भ होगा। नियमावली एवं ओवदन पत्र दिनांक 15 मार्च से 31 मार्च, 2000 तक अकादमी कार्यालय, दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी, सवाई रामसिंह रोड़, जयपुर-4 से प्राप्त करें। कार्यालय में आवेदन पत्र पहुँचने की अन्तिम तारीख 15 मई 2000 है।

—डॉ० कमलचन्द सोगाणी, जयपुर (राज०) ***

प्राकृतभाषा भारतीय संस्कृति की अन्तरात्मा है

वाराणसी में 'इक्कीसवीं शती में प्राकृतभाषा एवं साहित्य : विकास की संभावनायें' विषय पर आयोजित परिचर्चा संगोष्ठी की अध्यक्षता कर रहे प्रो० भोलाशंकर व्यास ने कहा कि "प्राकृतभाषा मात्र भाषा ही नहीं, बल्कि यह भारत की अन्तरात्मा और सम्पूर्ण सांस्कृतिक पहचान का माध्यम है। आज भी इसका प्रायः सभी भाषाओं पर प्रभाव विद्यमान है। अनेक प्रादेशिक और लोकभाषायें इसी से उद्भूत हैं; किन्तु विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में इसकी उपेक्षा असहनीय है। संस्कृत, हिन्दी आदि भाषा साहित्य के अध्ययन के साथ प्राकृत का अध्ययन अनिवार्य कर देना चाहिये।"

प्रमुख वक्ता के रूप में प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी ने कहा कि "प्राकृतभाषा में भारत की संस्कृति का हार्द समाया हुआ है। अतः इसकी रक्षा और विकास के लिये संघर्ष की आवश्यकता है, साथ ही शताब्दियों पूर्व स्थापित यह भ्रम टूटना चाहिये कि संस्कृत भाषा से प्राकृतभाषा की उत्पत्ति हुई। यथार्थ स्थिति यह है कि संस्कृत भी प्राकृत से व्युत्पन्न है। काशी हिंदू विश्वविद्यालय जैसे विशाल और गौरवपूर्ण विश्वविद्यालय में प्राकृत अध्ययन का अभाव भी कम आश्चर्यकारी नहीं है।"

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष एवं अपभ्रंश भाषा के विख्यात विद्वान् प्रो० शम्भूनाथ पाण्डे ने पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का संस्मरण सुनाते हुए कहा कि "पं० जी हमेशा कहा करते थे कि संस्कृतभाषा से मैं संस्कार प्राप्त करता हूँ; किन्तु प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं से मैं ओज-शक्ति तथा जीवन प्राप्त करता हूँ। उन्होंने कहा कि जिसे प्राकृत और अपभ्रंश भाषा का ज्ञान न हो, वह भारतीय संस्कृति को भी नहीं समझ सकता। प्राकृतभाषा मात्र एक भाषा ही नहीं है, अपितु वह प्राणधारा है; जिसमें संपूर्ण भारतीय संस्कृति समाहित है।"

संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में 'तुलनात्मक धर्मदर्शन विभाग' के विभागाध्यक्ष प्रो० राधेश्यामधर द्विवेदी ने कहा कि "संस्कृतभाषा के पूर्ण विकास के लिये प्राकृत और पाली का विकास आवश्यक है। भारतीय तथा प्रादेशिक सरकारों को इसका समुचित विकास करने का प्रयास करना चाहिये। इन्होंने आगे कहा किसी भाषा या संस्कृति-विशेष को महत्त्व दिये बिना सभी भाषाओं और संस्कृतियों का समान रूप से विकास करना चाहिये; अन्यथा हम संपूर्ण भारतीय संस्कृति को नहीं समझ सकेंगे।"

मुख्य अतिथि पद से भारत कला भवन के पूर्वनिदेशक प्रो० रमेशचन्द्र शर्मा ने कहा

कि “प्राकृतभाषा भारतीय संस्कृति का एक अभिन्न अंग है और इसका अनादर भारतीय संस्कृति का अनादर है। यह भाषा मात्र जैन समुदाय तक ही सीमित नहीं है, अपितु इसका बहुत विशाल क्षेत्र है। सम्राट् अशोक के तथा भारत के अन्य प्राचीनतम शिलालेख प्राकृतभाषा में ही उपलब्ध हैं। वस्तुतः यह भाषा भारतीय समाज को प्रतिबिंबित करती है। इसलिये यदि सामान्य जनता तक पहुँचना है, तो प्राकृतभाषा का अध्ययन आवश्यक है। आज यदि इसकी उपेक्षा करेंगे तो भविष्य हमें कभी माफ नहीं करेगा।”

संगोष्ठी में प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् डॉ० हृदयरंजन शर्मा, डॉ० गंगाधर पण्डा, डॉ० वशिष्ठ नारायण सिन्हा, प्रसिद्ध गांधीवादी श्री शरद कुमार साधक, डॉ० विजय कुमार, सरयूपारी ब्राह्मण परिषद् के महामंत्री श्री नरेन्द्र राम त्रिपाठी आदि ने भी अपने विचार व्यक्त किये।

—डॉ० फूलचन्द्र प्रेमी, वाराणसी *★*

लेखकगणों आवश्यक निवेदन

पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज ‘नियम सल्लेखना’ की मर्यादाओं के अनुरूप क्रमशः जनसम्पर्क की प्रवृत्तियों से दूर हो रहे हैं। इसीके अन्तर्गत पूज्य आचार्यश्री का आदेश है कि उनके नाम से या उनकी स्तुति/प्रशंसा आदि में कोई लेख, कविता आदि लिखकर न भेजें। यदि ऐसी रचनायें आयीं, तो हमें खेदपूर्वक उन्हें अस्वीकृत करना पड़ेगा।

पूज्य आचार्यश्री का आदेश सभी भक्तजन शिरोधार्य करेंगे। —ऐसा विश्वास है।

—सम्पादक *★*

सभारास्त्र और वक्तृत्व

“सभा वा न प्रवेष्टव्या प्रविष्टश्च वदेद् वृषं।

अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी।।” —(मनु० 8/13)

अर्थ:— या तो सभा-सम्मेलन में प्रवेश नहीं करना अच्छा है और यदि सभाओं में प्रवेश करना चाहते ही हैं, तो वहाँ धर्म और मर्यादायुक्त ‘वचन’ बोलना चाहिये। जो वक्ता या तो मौन रहता है, अथवा तथ्य को विकृत करके बोलता है, तो वह महान् पाप का भागी होता है। मुनि, उपाध्याय और आचार्यों के जिह्वा पर तीन लगाम लगे हैं (सत्यमहाव्रत, भाषासमिति और वचन गुप्ति) इन तीन बंधन को तोड़ना महान् अनर्थ का कारण है।

“क्षिपेद् वाक्यशरान् घोरान् न पारुष्यविषप्नुतान्।

वाक्पारुष्यरुषा चक्रे भीमः कुरुकुलक्षयम्।।” —(शार्ङ्गधर पद्धति, 1512)

अर्थ:— कठोरता का विष मिश्रित करते हुए वाक्यरूप बाण किसी भी व्यक्ति पर नहीं छोड़ने चाहिये, क्योंकि दुर्योधन के कठोर वाक्यों से क्रोधित हुए राजकुमार भीम ने कुरुकुल का संहार कर दिया।

★

इस अंक के लेखक/लेखिकायें

1. आचार्यश्री विद्यानन्द मुनिराज—भारत की यशस्वी श्रमण-परम्परा के उत्कृष्ट उत्तराधिकारी एवं अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी संत परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज वर्तमान मुनिसंघों में वरिष्ठतम हैं।

इस अंक में प्रकाशित 'अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग' एवं 'गोरक्षा से अहिंसक संस्कृति की रक्षा' शीर्षक आलेख आपके द्वारा विरचित हैं।

2. रामधारी सिंह दिनकर—भारत के यशस्वी राष्ट्रकवि दिनकर जी जननेता भी थे और सिद्धहस्त लेखक भी। ऐसी बहुआयामी प्रतिभा के धनी महामनीषी अपने साहित्य के रूप में आज भी जनजीवन में विद्यमान हैं।

इस अंक में प्रकाशित 'वैशाली' नामक कविता आपके द्वारा विरचित हैं।

3. पं० नाथूलाल जी शास्त्री—आप संपूर्ण भारतवर्ष में जैनविद्या के, विशेषतः प्रतिष्ठा-विद्यान एवं संस्कार के क्षेत्र में सर्वाधिक प्रतिष्ठित वयोवृद्ध विद्वान् हैं। आपने देश भर के अनेकों महत्त्वपूर्ण कार्यक्रमों का दिग्दर्शन किया है तथा सामाजिक शिक्षण के कार्य में आपका अन्यतम योगदान रहा है। आपने विविध विषयों पर अनेकों प्रामाणिक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें भी लिखीं हैं।

इस अंक में प्रकाशित 'एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न का समाधान' तथा 'भट्टारक परम्परा एवं एक नम्र निवेदन' शीर्षक आलेख आपके द्वारा विरचित हैं।

स्थायी पता—42, शीश महल, सर हुकुमचंद मार्ग, इंदौर-452002 (म०प्र०)

4. डॉ० राजाराम जैन—आप मगध विश्वविद्यालय में प्राकृत, अपभ्रंश के प्रोफेसर पद से सेवानिवृत्त होकर श्री कुन्दकुन्द भारती जैन शोध संस्थान के निदेशक हैं। अनेकों महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों, पाठ्यपुस्तकों एवं शोध आलेखों के यशस्वी लेखक।

इस अंक के अन्तर्गत प्रकाशित 'जैन समाज का महनीय गौरव-ग्रंथ कातंत्र-व्याकरण' एवं 'अपभ्रंश के कडवक छन्द का स्वरूप विकास' नामक शोध आलेखों के लेखक आप हैं।

स्थायी पता—महाजन टोली नं० 2, आरा-802301 (बिहार)

5. डॉ० विद्यावती जैन—आप मगध विश्वविद्यालय की सेवानिवृत्त प्रोफेसर हैं तथा जैन-साहित्य एवं प्राकृतभाषा की अच्छी विदुषी हैं। आप प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन की सहधर्मिणी हैं।

इस अंक में प्रकाशित 'हंसदीप : जैन रहस्यवाद की एक उत्प्रेरक कविता' शीर्षक लेख आपका है।

स्थायी पता—महाजन टोली नं० 2, आरा-802301 (बिहार)

6. डॉ० प्रेमचंद रावका—आप हिन्दी-साहित्य के सुविज्ञ विद्वान् हैं।

इस अंक में प्रकाशित आलेख 'मनीषी साधक : पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ' आपके द्वारा रचित है।

स्थायी पता—1910, खेजड़ों का रास्ता, जयपुर-302003 (राज०)

7. डॉ० महेन्द्र सागर प्रचंडिया—आप जैनविद्या के क्षेत्र में सुपरिचित हस्ताक्षर हैं, तथा

नियमित रूप से लेखनकार्य करते रहते हैं। इस अंक में प्रकाशित 'आचार्यश्री विद्यानंद वंदनाष्टक' नामक कविता के रचयिता आप हैं।

स्थायी पता—मंगल कलश, 394, सर्वोदय नगर, आगरा रोड़, अलीगढ़-202001 (उ०प्र०)

8. श्री राजकुमार जैन—आप जैनविद्या के गवेषी विद्वान् हैं तथा आयुर्वेद-जगत् में आपकी विशेष ख्याति है।

इस अंक में प्रकाशित आलेख 'श्रुतज्ञान और अंग वाङ्मय' आपके द्वारा लिखित है।

स्थायी पता—फ्लैट नं०-112A, ब्लॉक-C, पॉकेट-C, शालीमार बाग, दिल्ली-110052

9. डॉ० उदयचंद जैन—सम्प्रति सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज०) में प्राकृत विभाग के अध्यक्ष हैं। प्राकृतभाषा एवं व्याकरण के विश्रुत विद्वान् एवं सिद्धहस्त प्राकृत कवि हैं।

इस अंक में प्रकाशित 'कातंत्र व्याकरण और उसकी उपादेयता' शीर्षक आलेख आपकी लेखनी से प्रसृत हैं।

स्थायी पता—पिऊकुंज, अरविन्द नगर, ग्लास फैक्ट्री चौराहा, उदयपुर-313001 (राज०)

10. डॉ० सुदीप जैन—श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली में प्राकृतभाषा विभाग में उपाचार्य (रीडर) एवं विभागाध्यक्ष होने के साथ-साथ प्राकृतभाषा पाठ्यक्रम के संयोजक भी हैं। अनेकों पुस्तकों के लेखक, सम्पादक। प्रस्तुत पत्रिका के 'मानद सम्पादक'।

इस अंक में प्रकाशित 'सम्पादकीय' के अतिरिक्त 'कुमारः श्रमणादिभिः सूत्र का बौद्ध परम्परा से संबंध नहीं' नामक आलेख आपके द्वारा लिखित हैं।

स्थायी पता—बी-32, छत्तरपुर एक्सटेंशन, नंदा फार्म के पीछे, नई दिल्ली-110030

11. डॉ० जयकुमार उपाध्ये—आप जैनदर्शन, प्रतिष्ठाविधान, ज्योतिष एवं वास्तुविद्या के अच्छे प्रतिष्ठित विद्वान् हैं। तथा विभिन्न विषयों पर आप लिखते रहते हैं। इस अंक में प्रकाशित 'भट्टारक परम्परा' शीर्षक आलेख आपकी लेखनी से प्रसृत है।

स्थायी पता—बी-34, डी०डी०ए० फ्लैट, कटवारिया सराय, नई दिल्ली-110016

12. श्रीमती अमिता जैन—प्राकृत, अपभ्रंश एवं जैनविद्या की स्वाध्यायी विदुषी। इस अंक में प्रकाशित आलेख 'जैनदर्शनानुसार शिशु की संवेदनशक्ति एवं विज्ञान की अवधारणा' नामक लेख आपकी लेखनी से प्रसृत है।

पत्राचार-पता—बी-704, प्रथम तल, सफदरजंग इन्क्लेव एक्सटेंशन, नई दिल्ली-110029

13. श्रीमती रंजना जैन—हिन्दी साहित्य, जैनदर्शन एवं प्राकृतभाषा की विदुषी लेखिका हैं। इस अंक में प्रकाशित आलेख 'अहिंसा : एक विश्वधर्म' शीर्षक आलेख आपके द्वारा विरचित है।

स्थायी पता—बी-32, छत्तरपुर एक्सटेंशन, नंदा फार्म के पीछे, नई दिल्ली-110030

14. डॉ० (श्रीमती) माया जैन—आप जैनदर्शन, की अच्छी विदुषी हैं। इस अंक में प्रकाशित 'आचार्यश्री विद्यानन्द जी सामाजिक चेतना' शीर्षक आलेख आपकी लेखनी से प्रसृत है।

स्थायी पता—पिऊकुंज, अरविन्द नगर, ग्लास फैक्ट्री चौराहा, उदयपुर-313001 (राज०)



प्राकृतविद्या के सम्बन्ध में तथ्य-सम्बन्धी घोषणा

प्रकाशन स्थान	:	18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-67
प्रकाशन अवधि	:	त्रैमासिक
प्रकाशक	:	सुरेशचन्द्र जैन
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	कुन्दकुन्द भारती 18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-67
मुद्रक	:	महेन्द्र कुमार जैन
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	कुन्दकुन्द भारती 18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-67
सम्पादक	:	डॉ० सुदीप जैन
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	कुन्दकुन्द भारती 18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-67
स्वामित्व	:	सुरेशचन्द्र जैन मन्त्री, कुन्दकुन्द भारती 18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-67

मैं सुरेशचन्द्र जैन एतद्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य हैं।

सुरेशचन्द्र जैन
प्रकाशक

प्राकृतविद्या के स्वत्वाधिकारी एवं प्रकाशक श्री सुरेशचन्द्र जैन, मन्त्री, श्री कुन्दकुन्द भारती, 18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-110067 द्वारा प्रकाशित; एवं मुद्रक श्री महेन्द्र कुमार जैन द्वारा, पृथा ऑफसेट्स प्रा० लि०, नई दिल्ली-110028 पर मुद्रित।

भारत सरकार पंजीयन संख्या 48869/89

‘सर्वास्वेह हि शुद्धासु जातिषु द्विजसत्तमाः ।

शौरसेनी समाश्रित्य भाषा काव्येषु योजयेत् ।।’ —(नाट्यशास्त्र)

अर्थ:—हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! सभी शुद्ध जातिवाले लोगों के लिए शौरसेनी प्राकृतभाषा का आश्रय लेकर ही काव्यों में भाषा का प्रयोग करना चाहिये ।

शौरसेनी प्राकृत

“शौरसेनी प्राकृतभाषा का क्षेत्र कृष्ण-सम्प्रदाय का क्षेत्र रहा है। इसी प्राकृतभाषा में प्राचीन आभीरों के गीतों की मधुर अभिव्यंजना हुई, जिनमें सर्वत्र कृष्ण कथापुरुष रहे हैं और यह परम्परा ब्रजभाषा-काव्यकाल तक अक्षुण्णरूप से प्रवाहित होती आ रही है।”

—डॉ० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित

(भरत और भारतीय नाट्यकला, पृष्ठ 75)

“भक्तिकालीन हिंदी काव्य की प्रमुख भाषा ‘ब्रजभाषा’ है। इसके अनेक कारण हैं। परम्परा से यहाँ की बोली शौरसेनी ‘मध्यदेश’ की काव्य-भाषा रही है। ब्रजभाषा आधुनिक आर्यभाषाकाल में उसी शौरसेनी का रूप थी। इसमें सूरदास जैसे महान् लोकप्रिय कवि ने रचना की और वह कृष्ण-भक्ति के केन्द्र ‘ब्रज’ की बोली थी, जिससे यह कृष्ण-भक्ति की भाषा बन गई।” —विश्वनाथ त्रिपाठी

(हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० 18)

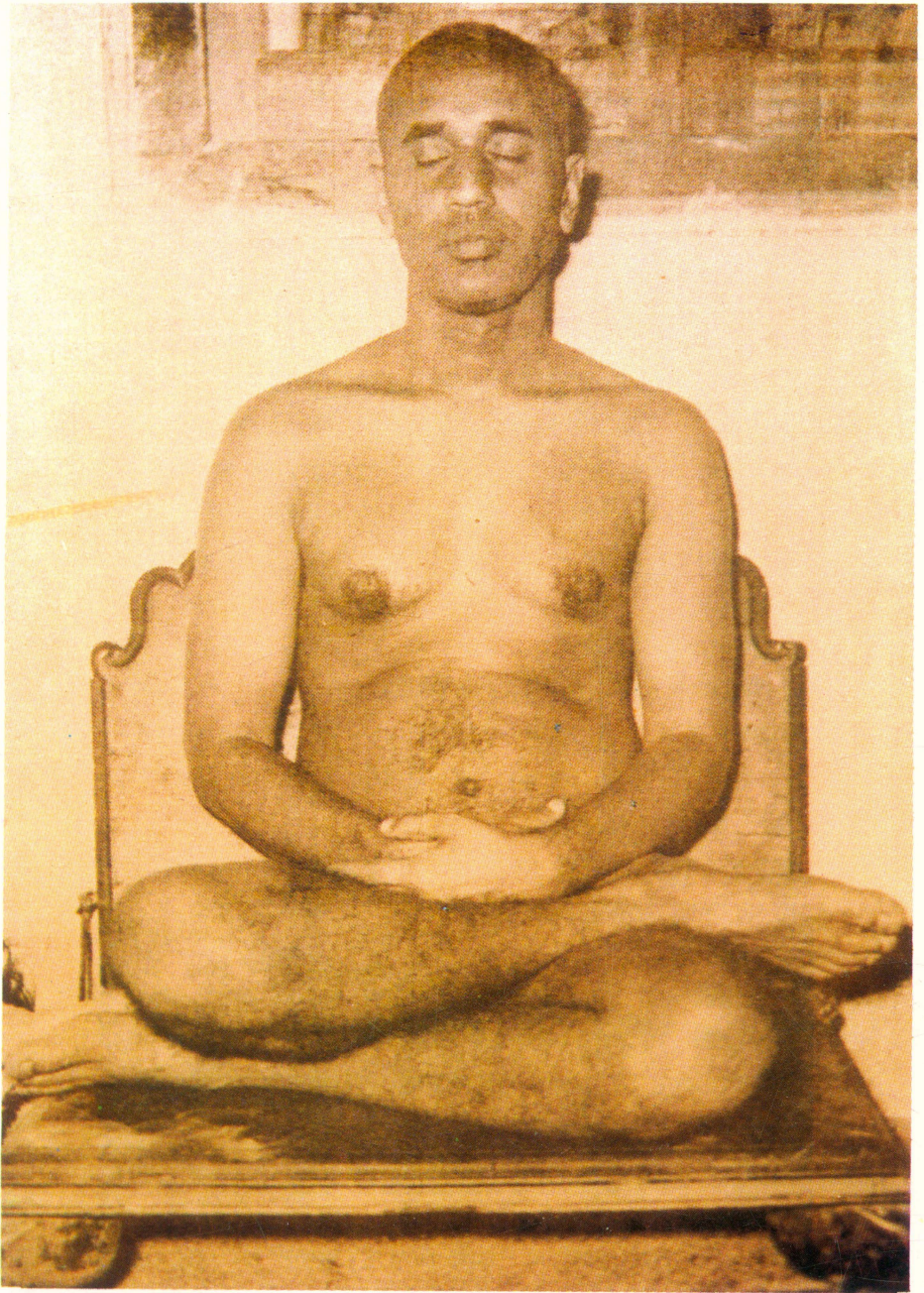
“मथुरा जैन आचार्यों की प्रवृत्तियों का प्रमुख केन्द्र रहा है, अतएव उनकी रचनाओं में शौरसेनी-प्रमुखता आना स्वाभाविक है। श्वेतांबरीय आगमग्रन्थों की अर्धमागधी और दिगम्बरीय आगमग्रन्थों की शौरसेनी में यही बड़ा अन्तर कहा जा सकता है कि ‘अध मागधी’ में रचित आगमों में एकरूपता नहीं देखी जाती, जबकी ‘शौरसेनी’ में रचितभाषा की एकरूपता समग्रभाव से दृष्टिगोचर होती है।” —डॉ०जगदीशचंद्र जैन

(प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० 30-31)

“प्राकृत बोलियों में बोलचाल की भाषायें व्यवहार में लाई जाती हैं, उनमें सबसे प्रथम स्थान शौरसेनी का है। जैसा कि उसका नाम स्वयं बताता है, इस प्राकृत के मूल में शूरसेन के मूल में बोली जानेवाली भाषा है। इस शूरसेन की राजधानी मथुरा थी। —आर. पिशल (कम्पेरिटिव ग्रामर ऑफ प्राकृत लैंग्वेज, प्रवेश 30-31)

प्राकृतभाषा के प्रयोक्ता

“मथुरा के आस-पास का प्रदेश ‘शूरसेन’ नाम से प्रसिद्ध था और उस देश की भाषा ‘शौरसेनी’ कहलाती थी। उक्त उल्लेख से इस भाषा की प्राचीनता अरिष्टनेमि से भी पूर्ववर्ती काल तक पहुँचती है।” —(मघवा शताब्दी महोत्सव व्यवस्था समिति, सरदारशहर (राज०) द्वारा प्रकाशित ‘संस्कृत प्राकृत व्याकरण एवं कोश की परम्परा’ नामक पुस्तक से साभार उद्धृत)



25 जुलाई 1963 ई० को श्रमण-दीक्षा के उपरान्त आत्मध्यान में लीन
मुनिश्री विद्यानन्द जी का दुर्लभ चित्र

(ध्यान विषयक विवरण पीछे देखें)

‘दृष्टिवाद’ नामक बारहवें अंग में ध्यान का स्वरूप

“तथाहि — ध्यानं ध्यानसंतानस्तथैव ध्यानचिन्ता (चिन्ताशब्दे ज्ञान-सामान्यवचनः) ध्यानान्वयं सूचयति । तत्रैकाग्रचिन्तानि रोधो ध्यानम् । तच्च शुद्धाशुद्धरूपेण द्विधा । अथ ध्यानसंतानः कथ्यते—यत्रान्तर्मुहूर्तपर्यन्तं ध्यानं, तदनन्तरमन्तर्मुहूर्तपर्यन्तं तत्त्वचिन्ता, पुनरप्यन्तर्मुहूर्तपर्यन्तं ध्यानं, पुनरपि ततः चिन्तिते प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानवदन्तर्मुहूर्तेऽन्तर्मुहूर्ते गते सति परावर्तनमस्ति स ध्यानसंतानो भण्यते । स च धर्मध्यान-सम्बन्धी ।”

—(आचार्य जयसेन, प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति टीका, गाथा 196)

अर्थः—ध्यान, ध्यान की संतान (सन्तति या परम्परा), ध्यान-चिन्ता (चिन्ताशब्द ज्ञानसामान्य का वाचक है) एवं ध्यानान्वय का सूचन इसप्रकार है—

एकाग्र (एक-अग्र आत्मा ही है) चिन्ता-निरोध को ‘ध्यान’ कहते हैं। वह ध्यान शुद्ध और अशुद्धरूप से दो प्रकार का है। अब ‘ध्यान-संतान’ का कथन किया जाता है—यहाँ अन्तर्मुहूर्त तक ध्यान उसके बाद अन्तर्मुहूर्त तक तत्त्व-चिन्ता, पुनः पुनः अन्तर्मुहूर्त तक ध्यान फिर तत्त्व-चिन्तन करते हैं। (प्रचिन्तन छोटे में विश्राम लेकर) इसप्रकार प्रमत्त और अप्रमत्त छठवें-सातवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त तक झूलते रहते हैं। अतः अन्तर्मुहूर्त जाने के बाद पुनः पुनः परावर्तन सहज होता ही रहता है। इसी को ‘धर्मध्यान संतान’ कहा है।

जघन्य-अन्तर्मुहूर्त का सूक्ष्म समय एक सेकण्ड से भी कम का होता है। भिन्न अन्तर्मुहूर्त का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त से और भी कम ही होता है। उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त 48 मिनट है।

व्याप्य-व्यापकभाव, ज्ञेय-ज्ञायकभाव, वेद्य-वेदकभाव एवं आधार-आधेयभाव का ज्ञान ही आत्मध्यान में प्रमुख सहायक है। इसके बिना आत्मध्यान की कल्पना भी कठिन है। ‘समयपाहुड’ में प्रमुखतः इनका वर्णन इस दृष्टि से संकेतित है, विशेषतः आचार्य अमृतचन्द्र के ‘आत्मख्याति’ नामक अमृतभाष्य में। इसके ज्ञान-चिन्तन के अभ्यास से श्रमण प्रमत्तसंयत-अप्रमत्तसंयत रूप छोटे-सातवें गुणस्थानों में झूलते हैं एवं प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में आत्मानुभूति करते हैं।

व्याप्य-व्यापक आदि भावों के विषय में पूज्य आचार्य श्री विद्यानन्द जी का अध्ययन एवं चिन्तन अत्यन्त सूक्ष्म एवं गहन है। इसी के कारण जैन आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान की उन्हें अच्छी पकड़ है। इस विषय में उनकी रुचि एवं प्रवृत्ति भी रहती है, जो कि सम्पूर्ण श्रमण-परम्परा को एक अनुकरणीय आदर्श है। ❖❖

**‘पीयूष-पर्व’ के शुभ अवसर पर समर्पित
‘साहूश्री अशोक जैन-स्मृति-पुरस्कार-समर्पण-समारोह’
की भव्य झलकियाँ**



श्री सुदर्शन जी से श्रीफल-सहित एक लाख रुपयों की धनराशि
ग्रहण करती हुई ब्र० कमलाबाई जी



समारोह के संयोजक एवं कर्मठ कार्यकर्ता श्री चक्रेश जैन (बिजली वालों) का
सम्मान करते हुये माननीय श्री सुदर्शन जी



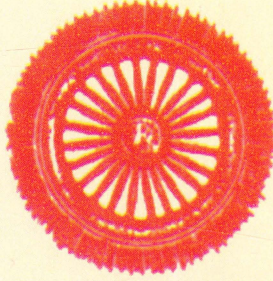
समारोह में सम्मिलित धर्मानुरागी सज्जनों का समूह-चित्र



समारोह में आयी हुई धर्मानुरागिणी माताओं-बहिनों का समुदाय



“परस्परोपग्रहो जीवानाम्” - (तत्त्वार्थसूत्र)



“सुदतित्थं धम्मचक्कपवट्टणहेदू” - (तिलोयपण्णत्ति)



“अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।” - (महर्षि पतंजलिकृत योगसूत्र)